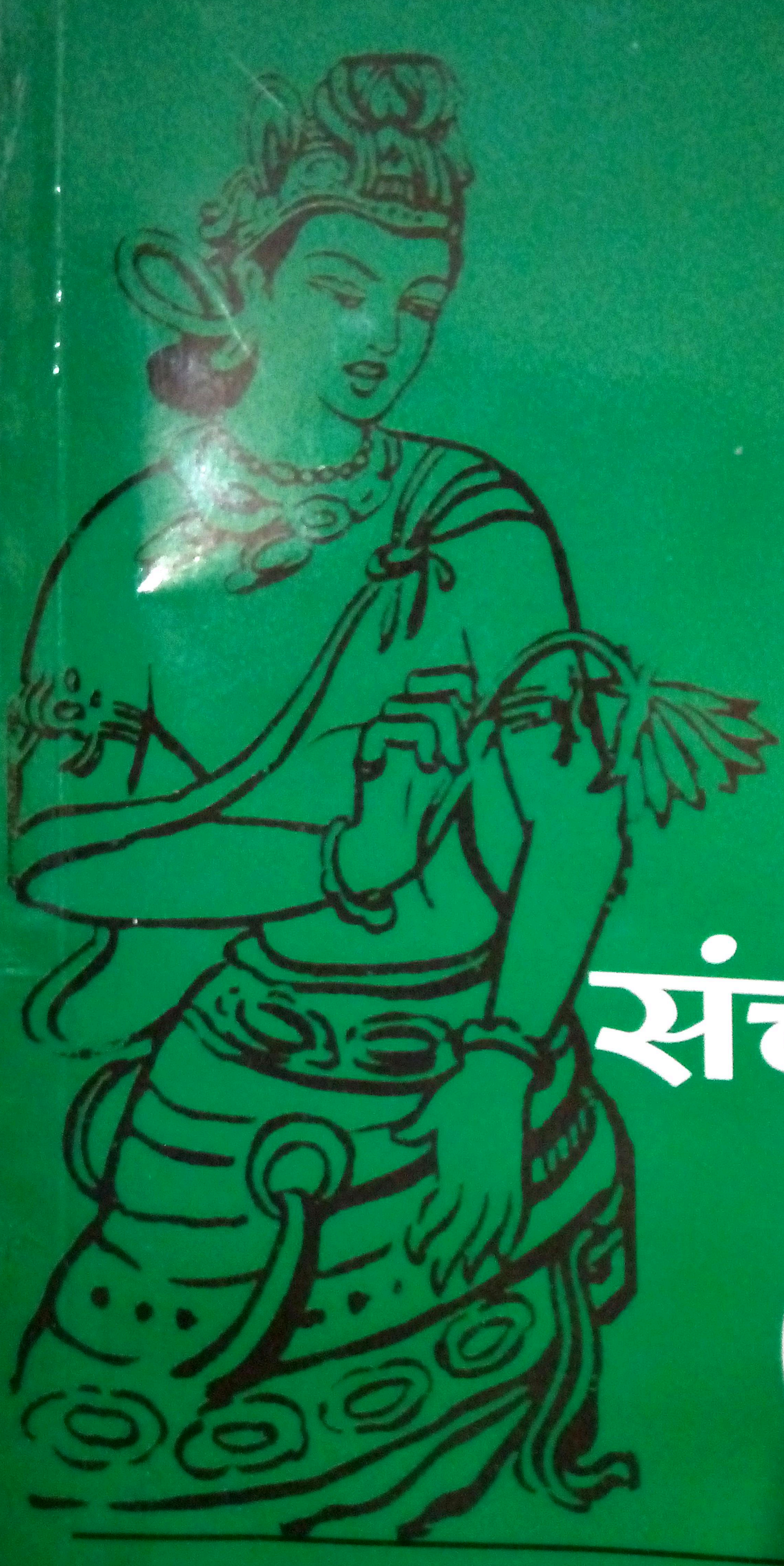
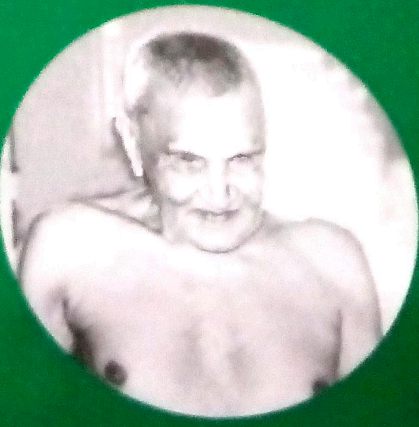




प्रज्ञा संचयन



पद्मभूषण प्रज्ञाचक्षु डॉ. पं. सुखलालजी

(मूल गुजराती से अनूदित गहन अध्ययन-चिंतनपूर्ण लेख-निबंध)

प्रतिभाप - प्रसाराय सप्रेम भेट
— ५.

प्रज्ञा संचयन

पद्मभूषण प्रज्ञाचक्षु डॉ. पं. सुखलालजी के
दर्शन और चिंतन से जैन दर्शन, श्रीमद् राजचंद्र एवं महात्मा गाँधीजी विषयक
अहिंसक संस्कृति के चुने हुए अनूदित विशिष्ट चिंतन लेख-निबंध)

* सम्पादक - अनुवादक *

प्रो. प्रतापकुमार ज. टोलिया,
एम.ए.(हिं.), एम.ए. (अं), साहित्य रत्न, जैन संगीत रत्न
सुमित्रा प्र. टोलिया,
एम.ए. (हिन्दी), संगीत विशारद
(सप्तभाषी आत्मसिद्धि, पंचभाषी पुष्पमाला, आत्मध्यान के अवसर पर, प्रज्ञाचक्षु का दृष्टिप्रदान आदि अनेक जैन ग्रंथों के सम्पादक-अनुवादक ; श्री भक्तामर स्तोत्र, आत्मसिद्धि शास्त्र, महावीर दर्शन, ईशोपनिषद, आत्मखोज, ध्यानसंगीत आदि अनेक लांगप्ले - कॉम्पैक्ट डिस्क के गायक - निदेशक ; भूतपूर्व कॉलेज प्रिन्सिपाल एवं प्राध्यापक)

*

* पुरोवचन *

डॉ. जितेन्द्र बी. शाह
निदेशक, ला. द. भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद

*

सौजन्य स्वीकृति
जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस
पंडित सुखलालजी सन्मान समिति, अहमदाबाद

* * * * *

जिनभारती
वर्धमान भारती इन्टरनेशनल फाउन्डेशन
प्रभात काम्पलेक्स, के.जी. रोड़, बेंगलोर - 560 009

कृति-कथ्य :

Pragya Sanchayan - Deeply studied, translated and edited philosophical analytic Hindi writings on Jain Philosophy, Non Violence, Srimad Rajchandra and Mahatma Gandhi by the great Gandhian Jain Philosopher Padmabhushan, Pragya Chakshu **Dr. Pandit Sukhlalji** --

प्रज्ञा संचयन

Philosophy -- दर्शनशास्त्र

पुरोवचन लेखक:
डॉ. जितेन्द्र बी. शाह
निदेशक, ला. द. भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद

सौजन्य-स्वीकार -
जैन संस्कृति संशोधन मंडल, बनारस
पंडित सुखलालजी सन्मान समिति, अहमदाबाद

संपादक - अनुवादक:
प्रा. प्रतापकुमार ज. टोलिया, सुमित्रा प्र. टोलिया

प्रकाशक : सर्वाधिकार
जिनभारती
वर्धमान भारती इन्टरनेशनल फाउन्डेशन
प्रभात काम्पलेक्स, के.जी. रोड़, बेंगलोर - 560 009

संस्करण : प्रकाशन वर्ष : 2011
प्रथम आवृत्ति

टाइपोसेट एवं आवरण चित्र :
श्री अंशुमालिन् शहा,
इम्प्रिन्ट्स, बेंगलोर-4

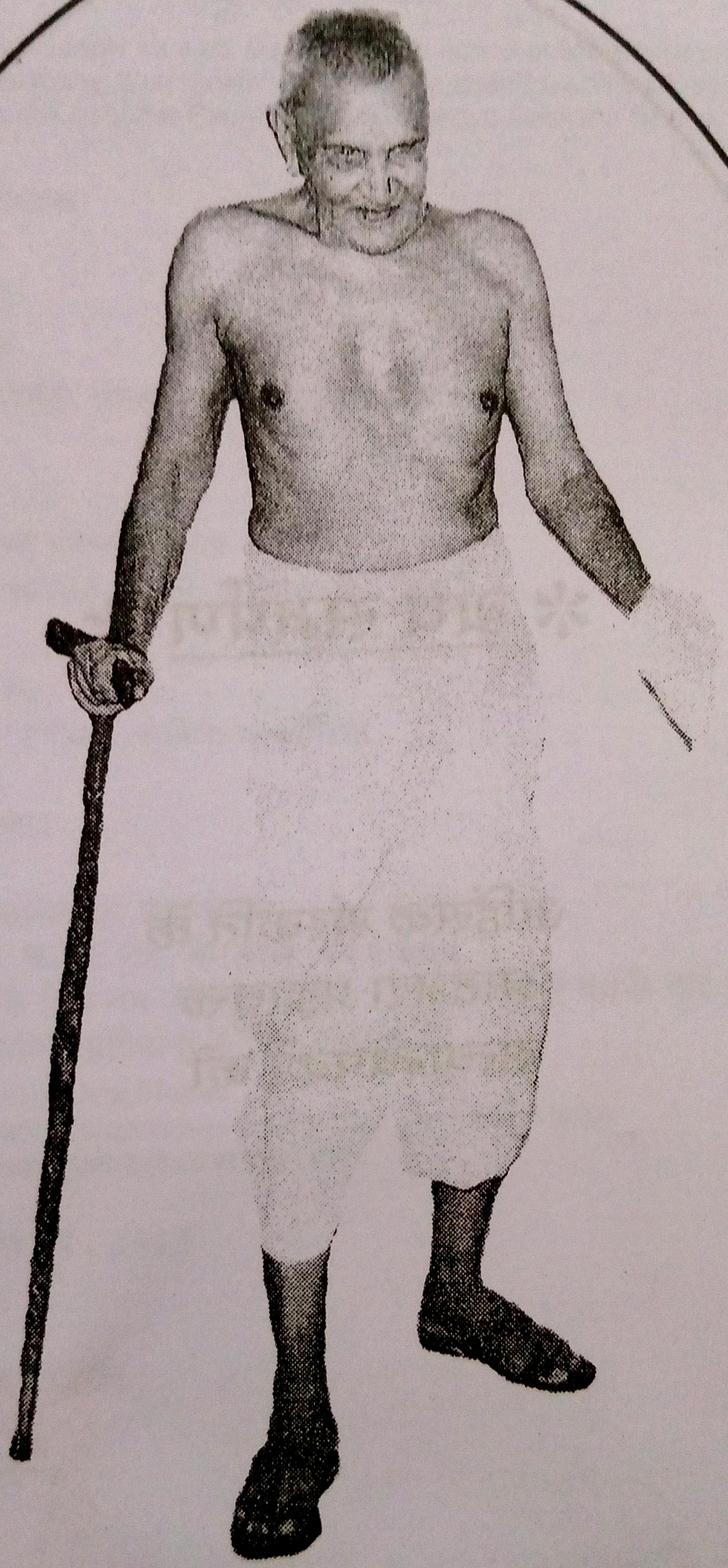
मुद्रक :
सी.पी. इनोवेशन्स, किलारी रोड़, बेंगलोर-53

मूल्य : अग्रिम आरक्षण : 5 प्रतियों के लिए रू.501/=
प्रकाशनोपरांत : रू. 151/= मात्र

ISBN No. 81-901341-11

* ग्रंथ समर्पण *

अहिंसक संस्कृति के
ऋतंभरा प्रज्ञायुक्त
सत्यान्वेषकों को



पद्मभूषण प्रज्ञाचक्षु डॉ. पं. सुखलालजी

८.१२.१८८० - २.३.१९७८

प्रज्ञासंचयन

अनुक्रम

पुरोवचन

अनुकरणीय गुरुतर्पण

डॉ. जितेन्द्र शाह

(निर्देशक, ला. द. भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद)

उपाध्याय यशोविजयजी ने ज्ञानसार अष्टक के ज्ञानाष्टक में लिखा है कि जिस तरह राजहंस मानस सरोवर में लीन रहता है उसी तरह ज्ञानी ज्ञान में ही लीन रहता है। ज्ञानी को ज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय में आनन्द नहीं आता। आनन्द की बात तो दूर रही किन्तु पीड़ा होती है। ज्ञानी ज्ञान में ही मस्त रहता है। जीवन की प्रत्येक क्रिया में ज्ञानी ज्ञानमग्न ही होता है। ज्ञानी सोते हुए, उठते हुए, बैठे बैठे, खाते हुए या अन्य बाह्य क्रिया करते हुए दिखाई देते हैं किन्तु मन तो सदा ही ज्ञान की मस्ती में मस्त रहता है। जैनदर्शन के मर्मज्ञ विद्वान, प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलालजी संघवी भी ज्ञानमग्न ऋषि थे। उनके जीवन में भी ज्ञान की ऐसी ही मस्ती रही होगी उसका अनुभव हमें पंडितजी के लेखों को पढ़ते हुए होता है। अनेक विपदाओं के बीच में पंडितजी ने ज्ञानार्जन किया। आखों की ज्योति नष्ट हो जाने के बाद ही सभी प्रकार का अध्ययन किया जो अपने आप में आश्चर्यजनक है।

आजीवन ज्ञानमग्न पंडितजी ने अनेक प्रौढ़ एवं अत्यंत क्लिष्ट ग्रंथों का संपादन किया। 'सन्मतितर्क हेतुबिन्दु', 'तत्वोपप्लवसिंह' जैसे दुरूह ग्रंथों का सफलतापूर्वक संपादन किया। इनमें से 'सन्मतितर्क' ग्रंथ का संपादन सब से बड़ी चुनौती थी। १०-१२ साल की दीर्घकालीन विद्यासाधना के परिणामस्वरूप यह ग्रंथ प्रकाशित हुआ तब स्वयं गाँधीजी ने भी इस ग्रंथ के संपादन की प्रशंसा की थी। इस ग्रंथ के पाठान्तर, पादटीप एवं परिशिष्टों का अवलोकन करने पर उनकी ज्ञानसाधना को शत-शत नमन करने का मन होता है। सैंकड़ों ग्रंथों के उद्धरण, भारत के सभी दर्शनों के साथ जैनदर्शन के सिद्धान्तों की तुलना एवं समीक्षा दर्शनशास्त्र में जिज्ञासुओं के लिए रत्नकोश के समान है।

यह सब उनकी स्मृति में सहज ही उपस्थित थे। यही कारण था कि विश्वभर के भारतीय दर्शन के विद्वान पंडितजी को नमन करते थे। ग्रंथों के संपादन के अतिरिक्त उन्होंने समय-समय पर दो सौ से अधिक लेख लिखे हैं। विभिन्न विषयों के लेखों को देखते हुए पंडितजी की बहुश्रुत प्रज्ञा का परिचय होता है। संशोधनात्मक एवं समाज को नई दिशा देनेवाले लेखों में नया उन्मेष दिखाई देता है। अनेक विषयों की सूक्ष्म विगतों की चर्चा, सूक्ष्म चिंतन एवं विषय का स्पष्ट बोध यह सब पंडितजी की सर्वत्रगामिनी प्रज्ञा का सहज ही परिचय कराता है।

पंडितजी के चर्म-चक्षु अक्षम थे किन्तु प्रज्ञाचक्षु से वे सब कुछ देखते थे। जिज्ञासावृत्ति चरम सीमा पर थी। स्वयं प्रज्ञाचक्षु होने पर भी नए-नए प्रकाशित ग्रंथों का प्रतिदिन नियमित श्रवण करते थे। उनको अपनी स्मृति में सदा ही धारण करके रखते थे। अवधारण करने की उनकी शक्ति अद्भुत थी। एक दृष्टि संपन्न व्यक्ति अपने जीवनकाल में जितने ग्रंथ पढ़ नहीं पाता उससे अधिक ग्रंथों का श्रवण पंडितजी ने किया था और जीवन के अंत तक उनको स्मृति में रखा हुआ था। पंडितजी के लेखन की एक सब से बड़ी विशेषता यह थी कि वे कुछ भी निराधार या काल्पनिक नहीं लिखते थे। विषय का पूरा अध्ययन एवं संपूर्ण जानकारी को प्राप्त करने के पश्चात् चिंतन-मनन करके वे लिखते थे।

पंडितजी विषयों का सूक्ष्मावलोकन एवं दीर्घकालीन अनुशीलन, चिंतन एवं मनन के पश्चात् ही लिखते थे अतः उनके लेखों में सुधा समान अमृत की प्राप्ति होती है। पंडितजी के लेखों में एक सब से बड़ा गुण हमें दिखाई देता है वह है माध्यस्थ प्रज्ञा। पंडितजी जिस विषय पर लिखते थे उसमें हमें तटस्थ एवं पक्षपातविहीन-दृष्टि का अनुभव होता है। कहीं भी हठाग्रह, पूर्वग्रह, एकांगिता या सांप्रदायिकता की गंध भी नहीं आती है। किसी के भी प्रभाव में आए बिना तटस्थ बुद्धि से समालोचना करना पंडितजी की एक विलक्षणता थी।

पंडितजी ने गुजराती भाषा एवं हिन्दी भाषा में लेख लिखे हैं। इन लेखों में संख्या की दृष्टि से गुजराती भाषा में प्रचुर मात्रा में लिखा है। गुजराती लेखों का संग्रह दर्शन एवं चिंतन नाम के दो भागों में प्रकाशित हुआ है और एक भाग हिन्दी लेखों का प्रकाशित हुआ है। ऐसी महान विभूति के लेख केवल जैन धर्मावलंबियों के लिए ही नहीं अपितु समस्त जिज्ञासुओं के लिए उपकारी हैं। गुजराती भाषा प्रादेशिक भाषा है अतः उन लेखों का वाचन सीमित हो जाता है। हिन्दी हमारी

राष्ट्रभाषा है और भारत के सभी नागरिकों के लिए सुगम भी है अतः उन लेखों का हिन्दी अनुवाद अत्यावश्यक था। यह कार्य दीर्घकाल से अपेक्षित था। किन्तु भाषान्तर करना इतना सरल नहीं है। उसके लिए दो भाषाओं का ज्ञान, विषय का ज्ञान एवं लेखक के भावों को समझना आवश्यक है। इस अपेक्षा से भाषान्तर एक अत्यंत कठिन कार्य है।

श्री प्रतापभाई टोलियाने अपनी विदुषी धर्मपत्नी के सहयोग से इस दुरूह कार्य को संपन्न किया है यह एक आनन्द की घटना है। प्रतापभाई साहित्य, संगीत एवं ध्यान मार्ग के साधक हैं। शास्त्राध्ययन तो किया ही है साथ ही अनेक गुरुजनों के आशीर्वाद भी पाए हैं। पंडित सुखलालजी के कृपापात्र विद्यार्थी रहे हैं। पंडितजी के स्वप्नों को साकार करने के लिए आजीवन साधना की है। अब यहाँ उन्होंने पंडितजी के चिन्तनपूर्ण लेखों को हिन्दीभाषी जिज्ञासुओं के लिए सुलभ किया है। पंडितजी का लेखन स्पष्ट और सुबोध होते हुए भी सूत्रात्मक एवं गहन है। इन बातों का संपूर्ण ध्यान रखते हुए प्रतापभाई ने विनम्र एवं भक्तिपूर्ण हृदय से अनुवादन का कार्य किया है। इसके लिए मैं धन्यवाद देता हूँ।

श्रीमद् राजचंद्र गाँधीजी के आध्यात्मिक गुरू थे। श्रीमद्जी स्वयं अध्यात्म के उच्च शिखर पर विराजमान थे। उन्होंने बाल्यावस्था में ही अपनी स्मृति के आधार पर शतावधान करके देश एवं विदेश के लोगों को आश्चर्यचकित कर दिया था। किन्तु उन्होंने सोचा कि शतावधान से मेरी प्रतिष्ठा तो बढ़ सकती है किन्तु मेरा आत्मकल्याण नहीं हो सकता। अतः उन्होंने शतावधान के प्रयोग करना बंद कर दिया था। इस बीच गाँधीजी को पत्र द्वारा मार्गदर्शन दिया और गाँधीजी ने श्रीमद्जी को अपना आध्यात्मिक मार्गदर्शक के रूप में माना।

श्रीमद्जी और पंडितजी दोनों भी गुजरात के, फिर भी कभी मिले नहीं थे। श्रीमद्जी की आध्यात्मिकता से सुखलालजी प्रभावित हुए थे। उन्होंने श्रीमद्जी के विषय में जो लिखा है वह श्रीमद्जी को समझने के लिए अति उपयोगी है। उनकी अमरकृति 'आत्मसिद्धि' तो जैन गीता के समान है। श्रीमद्जी एवं उनकी कृतियों की पंडित श्री सुखलालजी ने सम्यक् समालोचना की है जो अत्यंत महत्वपूर्ण है, उनकी गरिमा को उजागर करनेवाली है।

पंडित सुखलालजी ने सन्मतितर्क ग्रंथ का संपादन गाँधीजी द्वारा स्थापित गुजरात पुरातत्त्व मंदिर में रह कर किया। इस दौरान वे गाँधीजी के साक्षात् परिचय में

आए। उन्होंने गाँधीजी के जीवन को नज़दीक से जाना पहचाना। अहिंसा एवं सत्य के महान उपासक से वे प्रभावित हुए। यथाशक्ति सहयोग भी प्रदान किया। गाँधीजी के जीवन के सत्य को पंडित सुखलालजी ने अपनी प्रज्ञा से प्रकाशित किया है। गाँधीजी के विषय में बहुत कुछ लिखा गया है किन्तु एक दार्शनिक के द्वारा लिखा गया विशिष्ट विवेचन भी अवश्यमेव पठनीय है।

पंडितजीने आजीवन जैनदर्शन का अध्ययन, चिंतन, मनन एवं आचरण किया। समय समय पर जैनधर्म में हुए परिवर्तन एवं विशेषताओं का सम्यक् बोध उनके लेखों से प्राप्त होता है। वर्तमान में जहाँ कहीं विकार या रूढ़ि के कारण हानी हो रही है उन बातों को निर्भीक होकर पंडितजी ने लिखा है। जैन धर्म एवं दर्शन जानने एवं समझने के लिए ये लेख महत्वपूर्ण हैं। इन लेखों में से कुछ चुने हुए लेखों का संग्रह यहाँ किया गया है। ये सभी लेख पठनीय एवं मननीय हैं।

श्रीयुत प्रतापभाई के साथ मेरा परिचय तीन दशक पूर्व उनकी अति मेधावी पत्रकार सुपुत्री स्व. कु. पारुल एवं उनकी सहधर्मिणी श्रीमती सुमित्रजी के साथ हुआ था। प्रत्यक्ष परिचय के पूर्व मैंने प्रतापभाई के गीत एवं संगीत को सुना था और तभी से मैं प्रतापभाई के प्रति आकर्षित हुआ था। प्रत्यक्ष परिचय के पश्चात् हमारे संबंध गहन होते गए। समय समय पर इसमें स्नेह एवं सौहार्द का सींचन होता रह। कुछ महिने पूर्व जब उन्होंने मुझे इन लेखों के प्रकाशन की बात कही तब मेरा मन अत्यंत प्रसन्न हो गया।

यहाँ तो केवल श्रीमद् राजचंद्र विषयक, गाँधीजी विषयक एवं कुछ चुने हुए जैनदर्शन के लेखों का संचयमात्र है। किन्तु श्रीमद्जी,गाँधीजी एवं जैनदर्शन को समझने के लिए ये लेख कुंजी स्वरूप हैं। इन महत्वपूर्ण लेखों का हिन्दी रूपांतरण करके प्रतापभाईने न केवल जैनदर्शन की अपितु साहित्य एवं समाज की महती सेवा की है। इस अवसर पर मैं यह कामना करता हूँ कि भविष्य में प्रज्ञाचक्षु पंडितश्री सुखलालजी संघवी के अन्य गुजराती लेखों का भी हिन्दी भाषान्तर करके वे हमें लाभान्वित करेंगे। प्रतापभाई तो अत्यंत विनम्र विद्वान हैं। इस कार्य को गुरुतर्पण के रूप में मानते हैं, किन्तु मैं इसको साधना सुमन मानता हूँ और पुनः पुनः धन्यवाद अर्पित करता हूँ।

– जितेन्द्र शाह

प्रज्ञासंचयन : प्रज्ञाचक्षु डा. पंडित श्री सुखलालजी

प्राक्कथन

(पंडितजी की संक्षिप्त जीवन झलक एवं निजी संस्मरण सह)

प्रत्यक्ष सद्‌गुरु सम नहीं, परोक्ष प्रभु उपकार ।
ऐसो लक्ष भए बिना, सुझे न आत्मविचार ।।

(सप्तभाषी आत्मसिद्धि - ११, श्रीमद् राजचन्द्रजी - सहजानंदघनजी)

प्रातःवंदनीय परमोपकारक महाप्राज्ञ पूज्य पंडितजी का स्थान एवं निष्कारण वात्सल्यपूर्ण पितृवत् उपकार मेरे जीवन में सर्वाधिक रहा है। माता-पिता द्वारा संस्कारित आ. श्री. भुवनरत्नसूरिजी एवं मुनिश्री नानचंद्रजी-संतबालजी जैसे जैन संतों से आरम्भ हुई एवं आचार्य विनोबाजी-बालकोबाजी, जे. कृष्णमूर्ति तथा गुरुदयाल मल्लिकजी, चिन्नम्मा माताजी, विदुषी विमलाताई आदि वर्तमान दृष्टाओं से पुष्पित-पुष्टित मेरी आत्मखोज-पूर्ण अल्प-सी विद्यायात्रा-साधनायात्रा मूलतः युगदृष्टा युगप्रधान श्रीमद् राजचन्द्रजी एवं जैन जीवनधारा से परिप्लावित और प्रभावित रही है। पूज्य पंडितजी ने उसे ऐसा सुस्पष्ट, सकारात्मक मोड़ एवं गंतव्य प्रदान कर प्रवाहित किया और अपने अंतर्दृष्टि-प्रदान से १४ वर्षों की अपनी सुदीर्घ, सुष्ठु निश्रा में परिशुद्ध किया कि, एक भूमिकावत् आगे जाकर श्रीमद् राजचन्द्रजी के अनन्य शरणापन्न योगीन्द्र युगप्रधान श्री सहजानन्दघनजी (भद्रमुनिजी) एवं आत्मज्ञा माताजी धनदेवीजी के हंपी-कर्नाटक-रत्नकूट स्थित तीर्थसलिला तुंगभद्रा तट की विशाल आत्मसाधना की पुनित पावन महाधारा में घुलमिल जाने में, सर्वथा समर्पित हो जाने में, वह सक्षम और सार्थक सिद्ध हुई। यह सारा श्रेय अनंत उपकारक पूज्य पंडितजी की परम पवित्र प्रज्ञात्मा को ! इस सुदीर्घ

जीवनयात्रा के कुछ अंश मेरी कृतियाँ 'प्रज्ञाचक्षु का दृष्टिप्रदान', 'दक्षिणापथ की साधनायात्रा', 'साधनायात्रा का संधानपथ', 'अमरेली से अमरिका तक', 'अंतर्यात्रा विमलसरिता सह', 'Voyage Within with Vimalajee', 'My Mystic Master Y. Y. Shri Sahajanandaghanji', 'The Great Warrior of Ahimsa', 'गुरुदेव के संग'-- आदि आदि में शब्दबद्ध हुए हैं।

यहाँ इतना निर्देश करना समीचीन है कि १९५६ इ. में आचार्य विनोबाजी संग पूर्वभारत एवं दक्षिणभारत की पदयात्राओं के पश्चात् पूज्य पंडितजी के अहमदाबाद स्थित 'सरितकुंज' के आश्रम-उपवनवत् पावन सान्निध्य में आकर वसने का एवं उनकी यत्किंचित् सेवा सह विद्यासाधना करने का मुझे परम सौभाग्य संप्राप्त हुआ था। नगरमध्य का वह स्थान मानों पुराण पुरुष प्राज्ञ-ऋषि का एक लहलहाता, पंछियों से किलकिलाता प्रशांत 'विद्याश्रम' ही था। वहाँ तरुतले 'चिकु-निकुंज' की मेरी घास-फूस चटाई की छोटी-सी विद्या कुटिर भी बनी थी, जहाँ पंडितजी की सेवा के दुर्लभ अवसरों के बाद मेरा एकांत अध्ययन होता था। कभी कभी पंडितजी स्वयं वहाँ, अपने आगंतुक मिलनार्थी मनीषियों को साथ लेकर अचानक पधार जाते, विराजित होते और हमारा प्रणवमंत्र गान-श्रवण भी करते - सितार के साथ ! अद्भुत आनंदानुभूति होती थी तब।

मेरे आत्मखोज-आत्मकेन्द्र आधारित साहित्य-संगीत-दर्शन का वह संनिष्ठ विद्याकाल, साधनाकाल था (महाविद्यालयीन अध्ययन एवं अध्यापन का)। बीच में शांतिनिकेतन एवं हैदराबाद विश्वविद्यालयों में अनुस्नातक अध्ययन एवं ऋषि-संगीतगुरु पूज्य 'नादानंद' बापूरावजी की निश्रामें संगीत अध्ययन के काल को छोड़कर १९७० इ. तक के १४ वर्षों का मेरे विद्याजीवन-निर्माण का वह विशाल कालखंड, परम उपकारक पूज्य पंडितजी ने ऐसा तो प्रभावित और अपनी परा-अपरा विद्याओं से अंकित किया है कि वह सुवर्ण काल भुलाया नहीं जा सकता ! पर अब तो उसकी साक्षात्वत् स्मृति ही शेष रह पाई है - 'ते हि नो दिवसा गताः' !!

फिर इस कालखंड के अंत में, अपनी ९० वर्ष की देहायु के पड़ाव पर पहुँचकर, शायद मेरे गौतमस्वामीवत् उनके प्रति के प्रशस्त राग-बंधन को तुड़वाने और शायद मुझे अग्निपरीक्षाओं द्वारा अधिक ऊर्ध्वयात्रा करवाने, उन्होंने ही मुझे

गुर्जर जन्मभूमि से दूर दक्षिण में कर्णाटक में बेंगलोर और हंपी की आत्मदृष्टा सद्गुरुदेव श्री सहजानंदघनजी की पराभक्तिमयी निश्रा-भूमि में भेजा। इस प्रकार मेरी आगे की साधनायात्रा के परम प्रेरक निमित्त भी अपने अग्रज बंधु के साथ आर्ष-दृष्टा पंडितजी ही बने। १९७० में पूज्य गुरुदयाल मल्लिकजी के महाप्रयाण के बाद उन्होंने करवाया हुआ मेरा साधनाक्षेत्र-परिवर्तन एवं सद्गुरुनिश्रा-परिवर्तन एक ओर से उनकी परम पावन प्रेम-प्रांजल निश्रा को छोड़ने के विरह-वियोग के रंज से रंगा हुआ था, तो दूसरी ओर से एक अभिनव क्षेत्रकी सृष्टि में पूर्व-परिचित अन्य अनन्य परमगुरु की वैसी ही पावन-निश्रामें उन्हीं की (पंडितजी की) एक आर्षदृष्टि पूर्ण परिकल्पना की कार्यपूर्ति की 'अविचारणीया गुरुणां आज्ञा' उठाने के आनन्द से भी भरा हुआ था। पंडितजी की यह परिकल्पना, यह परम-मनीषा थी, सर्व जीवन-विद्याओं एवं प्रधानतः आर्हत् आत्मविद्या से युक्त एक अभूतपूर्व जैन विश्वविद्यालय के नूतन निर्माण की।

उनका परम पावन सान्निध्य छोड़ते समय विदा की बेला उन्होंने अपनी अंतर्वेदना से भरा हुआ, आर्षदृष्टिपूर्ण यह आदेश और मंगल आशीर्वाद दिया था:

"हम जैनों का यह महाप्रमाद है कि हमने विगत २५०० वर्षोंमें, अपने पास परा-अपरा सर्व विद्याओं की विशाल सम्पदा होते हुए भी, तक्षशिला और नालन्दा की कोटि का एक भी जैन विश्वविद्यालय निर्मित नहीं किया . . . । तुम लेखक और गायक हो, तो किताबें तो लिखोगे और रिकार्ड भी उतारोगे, परंतु ऐसे विश्वविद्यालय के निर्माण का युगसापेक्ष महाकार्य करो। हंपी के श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम पर यह कार्य कठिन होते हुए भी सम्भव हो सकेगा, क्योंकि वहाँ श्री सहजानंदघनजी-भद्रमुनिजी बड़ी विशाल दृष्टिवाले सत्पुरुष हैं, संप्रदाय मुक्त हैं और मेरा उन से सार्थक परिचय हुआ है। फिर तुम्हारे अग्रज वहाँ के आश्रमाध्यक्ष हैं, उन से भी मेरी विस्तृत वार्ता हुई है। आजीविका हेतु व्यवसाय में तुम्हारी भागीदारी के उपरान्त वे इस विद्या-कार्य में भी तुम्हारी सहायता करेंगे ऐसा मेरा विश्वास है . . . इसलिए शुभस्ते पंथानः !"

और मैं आर्ष-दृष्टा, सर्व हित-स्रष्टा पूज्य पंडितजी के इस आदेश-आशीर्वाद को निःशंक आनंदभाव से शिरोधार्य कर, उनका पावन सामीप्य एवं गुजरात विद्यापीठ का प्रतिष्ठायुक्त प्राध्यापक पद त्यागकर अहमदाबाद छोड़कर

बेंगलौर और हंपी आकर बसा। श्रीमद् राजचन्द्र शरण-समर्पित सहजानंदघनजी के चरणों में समर्पित हो गया। उन्होंने भी बड़े ही उल्लास और प्रसन्नता की अमीवर्षा करते हुए मुझे और हमारे सारे परिवार को अपना लिया। श्रीमद्जी की सिद्ध साधनाभूमि इडर पहाड़ पर सुश्री विमलाताई संग उनका प्रारंभिक प्रेरक परिचय तो पूर्वमें मुझे हो ही चुका था।

मेरी शरदपूर्णिमा १९६९ की पूर्वयात्रा के पश्चात् अब मई १९७० में उनकी निश्रा में आ बसने के बाद उन्होंने पूज्य पंडितजी की उपर्युक्त, अभूतपूर्व जैन विश्वविद्यालय-संस्थापना की भावना को बड़े ही प्रसन्न और प्रमोदभाव से ऐसे तो आशातीत कल्पनातीत भाव से स्वीकार कर लिया कि उसमें परमगुरु-संकेत देखकर मैं तो दंग ही रह गया! अग्रज आश्रमाध्यक्ष पू. चंदुभाई के साथ हुई हमारी इस विषय की प्रथम बैठक में ही उन्होंने परमोदार सम्मति प्रकट कर दी:-

"करो, प्रतापभाई! सार्थक करो महाप्राज्ञ पंडितजी की यह युगापेक्षी विश्वविद्यालय संस्थापना की आर्ष-भावना। आप सरस्वती-पुत्र हो, पंडितजी का आदेश और आशीर्वाद लेकर आए हो, वह एक-न-एक दिन पूर्ण होगा ही। . . . बोलो, इसके लिए आपको कितना धन चाहिए?"

कुछ संकोचवश मैंने उत्तर दिया - "बीस लाख रुपये . . . ।"

"बस, बीस लाख ही? बीस करोड़ क्यों नहीं? जैन समाज में पैसों की कहाँ कमी है? . . . पहले बीस व्यक्ति कार्यकर्ता ले आईये, जो आपके समान समर्पित हों, गांधीविचार और मिशनरी स्पिरिटवाले हों . . . शेष सब कुछ हो जायेगा . . . आप जो कुछ भी करना चाहें शीघ्र ही आरम्भ कर दीजिए . . . इस विश्वविद्यालय के द्वारा हमें विश्वभर को वीतराग-वाणी से अनुगुञ्जित कर भर देना है, जो परमकृपालुदेव (श्रीमद् राजचन्द्रजी) के अमृत-वचनों में ही भरी हुई है।"

इस पर साथ बैठे हुए अग्रज ने भी सम्मति दर्शाते हुए कहा कि "दो लाख रुपये प्रथम मैं ही दे दूँगा, चिंता मत करो और कार्य शुरु कर दो। तुम जैन विश्वविद्यालय का प्रारूप तैयार कर निर्माण की दिशा में आगे बढ़ो। तुम ऐसे बेनमून विश्वविद्यालय का सृजन करो और मैं गुरुदेव-आदेशित निराले ही जिनालय के निर्माण में प्रवृत्त हो रहा हूँ, जिसका प्लान भी बन चुका है। इन दोनों

निर्माणों के द्वारा हम दोनों बंधु रत्नकूट की इस आश्रमभूमि पर वस्तुपाल-तेजपालवत् महान कार्य जीवन में संपन्न कर के जाएँ . . . ।''

मैं इन दोनों आर्षदर्शक, हितचिंतक पूज्यजनों के ऐसे प्रोत्साहनों से बड़ा ही प्रभावित और आनंदित हुआ। उनमें पंडितजी का ही आशीर्वाद देखा। प्रस्तुत विश्वविद्यालय – पराविद्या–आत्मविद्या प्रधान अन्य जीवनोपयोगी विद्याओं से परिपूर्ण विश्वविद्यालय का प्रारूप तैयार करने बैठा। पत्रसंपर्क कर अहमदाबाद पूज्य पंडितजी से अभ्यासक्रम भी, गहन–परामर्श–अध्ययन–चिंतनद्वारा युगानुरूप दृष्टि से बना लिया। इस में भगवान ऋषभदेव–कथित ७२ एवं ६४ जीवनकलाओं – जीवनविद्याओं के विषय 'अमृता आत्मनः कला'वत् श्रीमद् राजचंद्रजी–प्रणीत आत्मज्ञान की पराविद्या को प्रथम एवं केन्द्र में रखकर आयोजित किए। महाप्राज्ञ पंडितजी एवं अनुभवज्ञानी सहजानंदघनजी – दोनों की सुभग, समग्र, सर्वस्पर्शा श्रमणधारा के साथ अन्य धाराओं को एवं वर्तमान के अहिंसा एवं जीवनशोधन के प्रयासों–परिबलों को भी इस में सम्मिलित किया गया। दोनों प्रबुद्ध प्राज्ञजनों द्वारा प्रेरित और प्रमाणित यह सर्वकालोपयोगी एवं सब से निराला एवं मौलिक अभ्यासक्रम आज भी मेरी फाईलों में सुरक्षित पड़ा है। अग्रज निर्मित एवं श्री कस्तुरभाई लालभाई प्रमाणित अपूर्व जिनालय प्लान भी।

इस पीठिका, पार्श्वभूमिका के उपरान्त सर्वप्रथम श्रीमद्–वाणी को सर्व भाषाओं में विश्वभर में अनुगुञ्जित एवं प्रसारित करने 'सप्तभाषी आत्मसिद्धि' के अनुवादन–सम्पादन का गुरुदेव सहजानंदघनजी ने आदेश दिया, जो कि गुजरात में विदुषी विमलादीदी सह पूर्व–निर्धारित परंतु अनारंभित रह गई 'Selected Works of Srimad Rajachandra' की हमारी ग्रंथयोजना का–सा था। वह कार्य दीदी का संपन्न नहीं हो पाया, परंतु 'सप्तभाषी आत्मसिद्धि' का यह पावनकार्य तो आरम्भ हो ही गया, उसके अनुवाद आदि के कुछ पृष्ठ गुरुदेव स्वयं देख भी गए, दूर से पंडितजी भी समय समय पर उसमें प्रेरणा भरते रहे . . . बड़ी प्रसन्नता एवं धन्यता से तब इन दो दो सत्पुरुषों के मार्गदर्शन में यह महत् कार्य गतिशील बना ...

परंतु . . . नियति को कुछ और ही तय करना था . . . !

अचानक गुरुदेव सहजानंदघनजी, आत्मा से संपूर्ण आनंदमय रहते हुए भी उदयकर्मवश शरीर से व्याधिग्रस्त हो गए . . . एक प्रातः काल को उनकी गुफा में

ग्रंथ की अनुवादित हस्तप्रति उनको संशोधनार्थ सौंपते समय उसे उन्होंने अपने सिरहाने पर यह कहकर रख दिया कि – ''प्रतापभाई ! अभी नहीं . . . '' जिसे सुनकर आघात अनुभव कर स्तब्ध रह गया। बाद में तो उन दिनों सारे हंपी आश्रम पर उनके गंभीर स्वास्थ्य को लेकर एक सदमा-सा छाया रहा . . . उस पर भी अपने व्यवसाय में अप्रत्याशित अंतरायों एवं कसौटियों के बीच से गुज़र रहे अग्रज चंदुभाई गुरुदेव की स्वास्थ्य-चिंता करते हुए अपने ऊटी एवं बेंगलोर के कार्यों को छोड़कर शीघ्र हंपी पधारे . . . देर रात कुछ देर गुफा में गुरुदेव से मिले . . . शेष चिंतनार्थ पुनः प्रातः मिलने जाने पर – आश्रमाध्यक्ष के नाते महत्वपूर्ण कार्यों और उनके गंभीर स्वास्थ्य-संबंधित उपचारों विषयक विमर्श करने बैठते ही एक विवेक-विहीन व्यक्ति ने सोए हुए स्वयं गुरुदेव की जानकारी के बिना आश्रमाध्यक्ष को भी वहाँ से उठा देकर गुफा से बाहर भेज दिया – अधिकारी एवं आश्रम, गुरुदेव के सर्व हितचिंतक होते हुए भी। घटना का ज्ञान होने पर करुणाशील गुरुदेव ने तो अपने सुनिष्ठ सेवक को उन्हें लिवा लाने भेजा। परन्तु तब विलम्ब हो चुका था।

अग्रज ने आहत फिर भी मौन रहकर, बाहर आकर मुझे यह व्यथा-वृत्तांत थोड़ासा सुनाकर, गुरुदेव की अनिच्छा (वेलोर अस्पताल नहीं लिये जाने की) का पालन करवाने का जिम्मा मुझे सौंपकर, तुरन्त बम्बई की ओर जाने हेतु वहाँ से २ अक्तूबर, १९७० को प्रस्थान कर दिया। और उसी संध्या को बेलगाम निकट अपनी कार-दुर्घटना में ज़ख्मी होते हुए भी दूरस्थ हंपी गुफास्थित गुरुदेव के अनुग्रह आशीर्वाद से शांति-समाधिपूर्वक बेलगाम अस्पताल में देहत्याग कर दिया। उसी रात के समय हंपी आश्रम पर सांकेतिक सतत धुन-गान में रत मुझ पर यह असह्य अप्रत्याशित वज्राघात था, जो दूसरे दिन बेंगलोर पहुँचने पर ज्ञातरूप से आ पड़ा।

उस समय की यह सारी अंतर्वेदना अन्यत्र अनेक लेखनों में प्रतिध्वनित और शब्दस्थ हुई है।

परंतु नियति का अप्रत्याशित प्रहार यहाँ रुकनेवाला नहीं था। अभी तो दूसरे महा-वज्राघात का प्रहार शेष था। . . . और ठीक एक महीने के पश्चात् २ नवम्बर, १९७० को ही गुरुदेव ने भी हंपी आश्रम की गुफा में, अभूतपूर्व सजग समाधिदशा में, देह से विदेह का महाप्रयाण कर दिया . . . ।

इन दो-दो महा-वज्राघातों के प्रहारों की पारिवारिक, व्यावसायिक, आश्रमिक, वैयक्तिक एवं संस्थाकीय अनेकविध आपदाओं, अग्निपरीक्षाओं, प्रतिकूलताओं और अप्रत्याशित चुनौतियों के बीच मेरे दो ही सम्बल थे - दूर गुजरातस्थ पूज्य पंडितजी एवं निकट हंपी स्थित गुरुदेव की उत्तर साधिका जगत्माता आत्मज्ञा पूज्या माताजी : पंडितजी समयोचित तलस्पर्शी पत्र-परामर्शों के द्वारा एवं माताजी प्रत्यक्ष वात्सल्य एवं सांत्वनापूर्ण सतत पथ-प्रदर्शनों द्वारा।

वास्तव में व्यावहारिक-पारिवारिक एवं पारमार्थिक जीवन में इन दो-दो महावज्रप्रहारों से सब कुछ विपरीत हो गया था। सारी पूर्वायोजित व्यवस्थाएँ और आयोजनाएँ उलटकर ठप्प हो गईं थीं। बेंगलोर-हंपी दोनों स्थानों पर विपदाओं, समस्याओं, अग्नि-परीक्षाओं का ढेर लग चुका था। एक ओर से "प्रतापभाई, प्रतिकूलताओं को अनुकूलताएँ समझें" कहती हुई गुरुदेव की प्रेरणा-वाणी अतीत के अंतराल से सुनाई दे रही थी, तो दूसरी ओर से जीवनभर ऐसी ही पारावार प्रतिकूलताओं के बीच से पले हुए पंडितजी की स्वयं की करुणतम जीवनगाथा पुरुषार्थ को - स्वयं के पुरुषार्थ को जगाने की प्रत्यक्ष प्रेरणा दे रही थी।

परिणामतः प्रतिकूलताओं की कतारों को तो मैं पार करता चला, पारिवारिक समस्याओं के संघर्षों को झेलता रहा और इन्हीं विपदाओं के बीच से भी नूतन निर्माणों को साकार करता रहा - भस्म में से सर्जन करनेवाले फिनिक्स पंछी की भाँति। वीतरागवाणी विश्वभर में भर देने के गुरु-आदेश का प्रथम चरण गुरुकृपा से बना 'आत्मसिद्धि शास्त्र', भक्तामर स्तोत्र, महावीरदर्शन आदि रिकार्ड-श्रृंखला-संगीत का निर्माण और कुछ ग्रंथ-पुस्तिकाओं का सृजन। 'सप्तभाषी आत्मसिद्धि' का संपादन-प्रकाशन कार्य भी अभी अधूरा और हंपी आश्रम के ट्रस्टी गुरुबंधुओं के ही अंतरायों के कारण रुका रहा था, जो बाद में पंडितजी की प्रेरणा से विदुषी विमलादीदी ने पूर्ण करवाया, जिसका लंबा इतिहास है। विश्वविद्यालय-निर्माण का कार्य, कि जिसका हंपी आश्रम के ट्रस्ट के संविधान में मैंने ही साग्रह समावेश किया था, अभी तो विद्यालय के पूर्व-रूप-समान, तरुतलों और गुफाओं में हंपीमें प्रतिकूलताओं के बीच भी समय-समय पर आयोजित शिबिरों और ध्यान-साधन बैठकों तक ही सीमित रहा है। इसी बीच फिर २ मार्च १९७८ को पूज्य पंडितजी का महाप्रयाण, १९७९ में अपनी पूज्या माँ का प्रयाण, १९८८ में मेधावी, प्रज्ञावान ज्येष्ठा सुपुत्री कु. पारुल का भी मार्ग-दुर्घटना में असमय युवावस्था में प्रयाण, फिर

१९९४ में हंपी में माताजी का महाप्रयाण और अभी-अभी २००९ में विमला दीदी का भी महाप्रयाण - इन सारे परम आत्मीय जनों के महाप्रयाणों ने अब प्रताप को अकेला फिर भी प्रतिकूल परिस्थितियों से लोहा लेने में सक्षम बनाकर छोड़ा है। आख़िर हमें अकेले ही तो अपना आत्मपथ काटना है। महाभारत के पुरुषार्थी योद्धा कर्ण का प्रेरणावाक्य "दैवायुत्तं तु कुले जन्मः मदायत्तं तु पौरुषम्।", गुरुदेव का प्रतिकूलताओं में अनुकूलताएँ मानने का प्रेरणा-संदेश, श्रीमद्‌जी का 'अप्रमादयोग' एवं भगवान महावीर का "समय गोयम् मा पमाए।" का परमबोध - ये सारे, पंडितजी के अपने प्रतिकूलताओं से भरे साक्षात् जीवन-आदर्श उपरान्त मेरे सम्बल - आधार बने हुए हैं। और गुरुकृपा के इन आधारों से एवं इस समर्पित जीवन के कारण स्पष्ट श्रद्धा है कि पारमार्थिक जीवन में उस चिर प्रतीक्षित विश्व-विद्यालय की सर्जना-संस्थापना इस अल्पात्मा के हाथों एक दिन अवश्य होगी ही होगी और वैयक्तिक जीवन में आत्मसमाधि-पूर्वक महाविदेह प्रयाण की संभावना भी गुरु-आज्ञा से सिद्ध होगी -

अंते "प्रभु आज्ञाए थाशुं ते ज स्वरूप जो ।"

समापन-संक्षेप में, जीवनयात्रा के इन सारे उपक्रमों में सर्वत्र 'सद्‌गुरुकृपा ही केवलम्।' बनकर सदा-सर्वदा छाई रही है। इस में परमोपकारक पूज्य पंडितजी के प्रत्यक्ष निश्रा के १४ वर्षों के एवं परोक्ष-निश्रा के ७ वर्षों के अनंत, अपार उपकार भरे अनुभवों के विषय में क्या क्या लिखें और किस प्रकार कैसे उनके उपकार-ऋणों को चुकाएँ? पूर्वोक्त सर्जन-कृतियों में किंचित् शब्दबद्ध अभिव्यक्तियों के बावजूद भी उनके जीवन-निर्माता उपकारपूर्ण अनुभव 'अवक्तव्य' ही रहे हैं, उन्हें शब्दाकार दिया नहीं जा पा रहा है। अभिव्यक्ति-अक्षम हैं ये अनुभव और ऋण-प्रति-उपकार कर पाने में अक्षम है यह जीवन -

"शुं प्रभु चरण कने धरुं, आत्माथी सौ हीन।" (आत्मसिद्धि)

"क्या प्रभु चरण में धरुं ? आत्मा से सब हीन।"

अस्तु।

यह तो हुआ स्वकथा का कथ्य। पंडितजी से आत्मीय संबंध के कारण।

और अब प्रस्तुत करना आवश्यक है, संक्षेप में भी सही, स्वयं परम अंतर्दृष्टा प्रज्ञापुरुष पूज्य पंडितजी के १६ से लेकर ९७ वर्ष तक के ८१ वर्षों के विशाल-विराट-अविराम सत्पुरुषार्थ पूर्ण, उदाहरण रूप महाजीवन का एक संक्षिप्त झांकी रूप परिदर्शन।

पंडितजी के समग्र जीवन को देखते हैं तो दृष्टिगत और प्रतिबिंबित होता है भगवान महावीर के अप्रमत्त जीवन का, श्रीमद् राजचंद्रजी के 'अप्रमाद योग' का सत्पुरुषार्थ, सतत सजग परम पुरुषार्थ, प्रतिकूलताओं के पहाड़ों के सामने भी घोरातिघोर पुरुषार्थ।

८ दिसम्बर १८८० को गुजरात-सौराष्ट्र के सुरेन्द्रनगर निकट के लीमली गाँव में देहजन्म पाये हुए सुखलालजी प्रारम्भ से ही जिज्ञासा के गुण से युक्त थे, परंतु १६ वर्ष की आयु तक जब चेचक की बीमारी में उनकी नेत्रज्योति चली गई, विद्याभ्यास में अधिक दक्ष नहीं हो पाए थे। कारण था पिता एवं परिवार की उन्हें अपने व्यापार में जोड़ देने की इच्छा। किशोर सुखलाल को पितृभक्ति वश प्रथम उसे उठाना तो पड़ा, परंतु बाद में अपने अदम्य संकल्पबल से और अचानक व्याप्त नेत्रांधकार की घोर विपदा के बीच भी अपने प्रबल पुरुषार्थ-पूर्वक अपनी उस जन्मजात जिज्ञासा एवं विद्यापिपासा को चरितार्थ भी कर सके।

वास्तव में विपरीत प्रतिकूल परिस्थितियों को भी उन्होंने अपना यह पुरुषार्थ-अप्रमत्त पुरुषार्थ का गुण, 'पाँच समवाय कारणों' के पूर्वकर्म, काल, स्वभाव एवं नियति के शेष चार कारणों को लांघकर विकसित किया था। अन्यथा अंकविद्या के अनुसार उनकी अंग्रेजी जन्मतिथि का ८ (आठ) का अंक घातक (fatal) माना गया है। परंतु साथ ही भारतीय ज्योतिर्विज्ञान-विद्यानुसार उनकी यह मार्गशीर्ष शुक्ला पंचमी की 'पूर्णतिथि' ज्ञान-सम्पदा को और किसी भी स्वनिर्धारित कार्यक्षेत्र में संपन्न कार्य को पूर्णता प्रदान करानेवाली शुभतिथि भी थी। पंडितजी ने, इस वर्तमान काल के असामान्य, उलटे प्रवाहवत् चलने के उपर्युक्त महापुरुषार्थ को अपनाकर, इस बात को सिद्ध कर दिखलाया। वर्तमान में जिस का शायद ही कोई जोड़, समांतर (parallel) दृष्टांत मिल सके, ऐसी उनकी पुरुषार्थ-सिद्धि की यह जीवनगाथा, महारथी कर्ण एवं महामानव भगवान महावीर की पुरुषार्थ-प्रधानता की स्मृति दिलाती है। "दैवायत्तं तु कुले जन्मः मदायत्तं तु

पौरुषम्'' – रश्मिरथी कर्ण की इस पूर्वकथित उक्ति को साकार करनेवाले, जीवनप्रवाह–परिवर्तक पंडितजी की असामान्य जीवन झाँकी पर एक दृष्टि डालें।

पिता संघजीभाई संघवी विशा श्रीमाली जैन, उस छोटे से लीमली गाँव में व्यापार करते थे। सामाजिक देखा–देखी के गलत रस्मो–रिवाज़ों का उन्हें पालन करना पडता था। किशोर सुखलाल समझदार होने पर अपनी तीक्ष्ण विवेकबुद्धि से उन सब का, समय समय पर विरोध–विद्रोह भी कर देते थे।

माता चार वर्ष की आयु में ही स्वर्गवासी हो गई थी। मृदु, वत्सल, स्नेह–सौजन्यमयी, मातृत्वपूर्ण विमाता जड़ीबाई ने उन्हें इतना तो वात्सल्य प्रदान किया था कि कई वर्षों के बाद ही 'वे विमाता थी' ऐसा उन्हें पता चल पाया था। उनका भी चौदह वर्ष की आयु में स्वर्गवास हो जाने से वे मातृसुख से वंचित हो गए। परंतु संघवी परिवार में आकर बसे हुए वत्सल–प्रेमी श्री मूलजीकाका एक 'पुरुषमाता' बनकर उनकी देखभाल करते रहे।

साहसप्रिय, विविध क्रीडा पटु, परिश्रमी, स्वावलंबी, सेवाभावी, आज्ञांकित, विवेकी, व्यवस्थाप्रिय एवं तीव्र परमबुद्धि युक्त सुखलाल पढ़ाई में इतने सजग और दक्ष थे कि पठित विषय उन्हें शीघ्र ही कंठस्थ हो जाता था। ये शायद ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम–परिचायक उनके पूर्वसंस्कार थे। सातवीं श्रेणी उत्तीर्ण करने के पश्चात् आगे अंग्रेज़ी पढ़ने की उनकी दुर्दम इच्छा को उन्हें पिता द्वारा दुकान पर बिठा देने के कारण छोड़ देना पड़ा। सुखलाल सफल व्यापारी तो बनने लगे, परंतु उनकी जागृत भीतरी विवेकदृष्टि और असत्यों के प्रति विद्रोह–वृत्ति के कारण वे तब प्रवर्त्तमान खर्चाले त्यौहार और फिज़ूलखर्ची के अतिथि सत्कारादि पर वे इस प्रकार प्रहार भी करते रहे –

"इन सब को मैं देखा करता . . . पढ़ना–लिखना छोड़कर इस प्रकार के खर्चीले रिवाज़ों में लगे रहने से कोई भला नहीं होगा।"

परंतु उनकी इस पढ़ने–लिखने को विवशतावश छोड़ देने की अंतर्व्यथा को जीवन–मृत्यु बीच झुला देनेवाली और चेचक के रोग द्वारा जीवनभर अंधत्व दे डालनेवाली विपरीत परिस्थिति ने दूसरे ढंग से 'blessings in disguise'वत् बदल देकर परिशान्त और अन्यथा सिद्ध कर देने का अवसर प्रदान कर दिया।

बाह्यप्रकाश गया, परंतु अंतर्लोक प्रकाशित होना प्रारम्भ होने लगा और वे अग्रसर हो सके अपने इप्सित विद्या-उपार्जन के पथपर – 'प्रथमे नार्जिता विद्या' का दंश और अवसाद अब तो उनके जीवन समस्त को विद्या ही विद्या के लोक में ले जानेवाला था।

अंधत्व के आरम्भ से वे प्रथम तो लीमली गाँव के छोटे-से क्षेत्र में आने-जानेवाले प्रायः स्थानकवासी जैन साधु-संतों के परिचय में आकर सुन सुन कर, श्रुत-श्रवण से पारंपरिक जैन ग्रंथों और आगमों का अध्ययन करने लगे। उनका अंतर्मुख मन संतों के इस संग से विद्या के क्षेत्र में झुकने का कुछ अवसर पाने लगा। सांप्रदायिक भी सही, शुष्कज्ञान और प्रथम तो जड़ क्रियावत् ही सही, परंतु उनका इस 'बहिर्मुख धर्मक्षेत्र' में प्रवेश हुआ। उनकी मौलिक सत्यान्वेषी प्रज्ञा उन्हें इस में से आगे चलकर विद्याभिमुख-आत्मविद्याभिमुख बनाकर छोड़नेवाली थी। उनके वि. सं. १९५२ से वि. सं. १९६० तक का बहिर्मुख विद्याध्ययन का यह 'संक्रान्ति काल' उन्हें किसी मुनिसंग के कारण 'अवधान प्रयोग' एवं 'मंत्रतंत्र साधना' की ओर भी खींचकर ले गया। परंतु शत-शत अवधानी 'साक्षात् सरस्वती' वत् श्रीमद् राजचन्द्रजी ने भी बादमें 'अवधान प्रयोग' को 'मानवर्धक' समझकर और 'ज्योतिषादि' को विशुद्ध आत्मसंपदा के सामने 'कल्पित' कहकर जैसे छोड़ दिया था, वैसे ही विशुद्ध विद्या और विवेक के सत्यान्वेषी उपासक युवा सुखलालने अवधान और मंत्र-तंत्रादि का तुरन्त त्याग कर दिया। उनकी सजग प्रज्ञा ने तब निपट आत्मार्थ को प्रधानता देते हुए चिरस्मरणीय एवं सर्व शुद्ध साधकों के लिए यह निष्कर्ष निकाला कि, 'अवधान बुद्धि को वंध्या एवं जिज्ञासा को कुंठित करने का मार्ग है और नवकार मंत्र के सिवा के मंत्र-तंत्र में आत्मार्थ का सत्यांश कम, दम्भ और मिथ्यात्व अधिक एवं अज्ञान, अहंकार, अंधश्रद्धादि कूट कूट कर भरे हुए हैं।' उनमें आत्मार्थ कहाँ, आत्मदृष्टि कहाँ, आत्मज्ञान की ज्ञानोपासना कहाँ और आत्मध्यान की अंतर्मुखता-स्वभाव सन्मुखता कहां?

विशुद्ध प्रज्ञा-परिचायक उनके ऐसे निष्कर्ष की प्राप्ति के मूल में था अंतस् की गहराई में, गहरे पानी पैठकर किया गया प्रशान्त अंतर्चिंतन। इसी से उपलब्ध आत्मोपलब्धि का ही तो संकेत किया है श्रीमद् राजचन्द्रजी ने अपने आत्मसिद्धि शास्त्र के इस टंकशाली अमृत-अनुभव में –

"शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन स्वयं ज्योति सुखधाम ।
बीजुं कहीए केटलुं? कर विचार तो पाम ।।"

अर्थात् और कहें कितना? चिंतन की गहनता में प्रवेश करने पर अपने इस विशुद्ध आत्मस्वरूप की, परम सत् की, उपलब्धि हो जाती है।

युवा पं. सुखलाल इस आत्म-दर्शक विद्या-प्राप्ति के ज्ञानमार्ग की ओर बढ़ने लगे थे आपनी गहन चिन-प्रज्ञा के द्वारा। अब ऐसी ज्ञानलक्षी विद्या-पराविद्या की अध्ययन-वृत्ति ही दृढ़ होने लगी थी, शेष सब कुछ गौण। हाँ, इस हेतु, आत्मलक्ष्य को केन्द्र में रखकर, अपने ज्ञानमार्ग पर कदम बढ़ाते जाने के उपक्रम में उन्हें अभी बहुत कुछ सीखने की पिपासा जागी थी - संस्कृत भाषा ज्ञान, व्यापक जैन दर्शन एवं अधिकृत सही जैनागमों का ज्ञान, जैनेतर सर्व दर्शनों का तुलनात्मक ज्ञान, तर्कशास्त्र, न्यायशास्त्र और संबंधित अनेक अनेक विषय।

जिज्ञासा थी अधिकाधिक विषयों-विद्याओं का अध्ययन करने की, स्वप्नदशा थी ज्ञान के विशद विशाल लोकों में ऊर्ध्वविहार कर नूतन आलोक पाने की, परंतु अपनी वर्तमान अवस्था ? वह तो थी अपार प्रतिकूलताओं से भरे हुए एक अन्याश्रित अकिंचन व्यक्ति की !!

दुन्यवी दृष्टि की ऐसी दीन-दैन्यावस्था के बीच होते हुए भी भीतर से वे प्रज्ञा-सम्पदार्थ संकल्पबद्ध हो चुके थे। उनकी वह स्वप्नदशा अब एक संकल्पदशा बन गई थी। और जहाँ ऐसी अदम्य संकल्पबद्ध सदीच्छा होती है वहाँ कौन रोक सकता है? ऐसी अप्रमत्त सत्पुरुषार्थ की तत्परता के सन्मुख स्वयं नियति ही अपने अपार संभावनाओं से भरे अवरुद्ध द्वार खोल देती है।

युवा स्वप्नदर्शा सुखलाल के साथ यही हुआ। उनका उपादान-संकल्प ही ऐसे अवसर को खोज ले आया। उन्हें लीमली गाँव के लघु क्षेत्र से विद्याभूमि वाराणसी के विशाल विराट विद्याक्षेत्र में प्रवेश कराने का बड़ा निमित्त अनायास ही उपलब्ध हो गया।

उस समय विद्यासंनिष्ठ आचार्य श्री विजयधर्मसूरीश्वरजी की वाराणसी-काशी में पाठशाला खुलने जा रही थी। यह समाचार सुनकर सुखलाल अति प्रसन्न

हो गए। परिवारजनों की प्रथमतः उन्हें अनुमति नहीं मिलने पर भी, जन्मजात साहसवृत्ति, जिज्ञासा और संकल्पबद्धता के कारण आख़िर सम्मति मिल ही गई।

अधूरे अपूर्ण साधन, अनजान प्रदेश, लम्बी यात्रा, सरल भोला साथी नानालाल, पद पद पर प्रतिकूलताएँ . . . पर इन सब से "बैठे हैं तेरे दर पे, तो कुछ करके उठेंगे" के स्वामी रामतीर्थ के संकल्प को अपनानेवाले सुखलाल कहाँ डरनेवाले थे?

वाराणसी जाते हुए बीच के स्टेशन पर दीर्घ-शंकार्थ उतरने पर गाड़ी छूट जाने पर भी दूसरी गाड़ी से दोनों भारी कष्ट उठाकर आख़िर काशी की विद्यानगरी पर पहुँच गए और तीर्थसलिला गंगा के शांत सरिता तट पर विजयधर्मसूरिजी के छोटे से नूतन विद्याश्रम में जैनविद्या के एकनिष्ठ अध्ययन में डूब गए।

आख़िर वाराणसी तो पुरुषादानी प्रभु पार्श्वनाथ की नगरी। संस्कृत व्याकरण का गहरा अभ्यास प्रथम चरण था। कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य के 'सिद्धहेम शब्दानुशासन' के सारे ही अठारह हज़ार श्लोक सुखलालने शीघ्र ही कंठस्थ कर लिए और फिर जीवनभर उन्हें स्मृति में संजोये रखे! कैसी आत्मसात्-क्षमता, कैसी सुदीर्घ स्मृति!!

फिर बढ़ती गई उनकी वह जन्मजात जिज्ञासा और अप्रमत्त पुरुषार्थी वृत्ति। नूतन, नित नए विद्याविषयों में प्रवेश होता गया, व्याकरण के साथ दर्शन, न्याय और साहित्यादि का भी अध्ययन होने लगा। जब पाठशाला का वातावरण प्रतिकूल बना तब भी, अर्थाभाव के अनगिनत, अपार संकटों के बीच भी, तपस्यापूर्वक कम खर्चे की चना आदि की खुराक खाकर पाठशाला को छोड़कर अकेले और बाद में सहपाठी व्रजलाल के साथ वे गंगातट के भदैनी घाट पर रहने लगे। परंतु विद्याध्ययन नहीं छोड़ा। वि. सं. १९६० से वि. सं. १९६३ तक का उनका यह वाराणसी का प्राथमिक विद्याकाल ही घोर संघर्षों, कसौटियों एवं प्रतिकूलताओं से भरा हुआ रहा, जो बाद में भी कोई सुविधादायक तो नहीं ही बननेवाला था। परंतु परिस्थितियों से लोहा लेनेवाले सुखलाल कहाँ रुकनेवाले थे? पैसों की तंगी, कड़कड़ाती सर्दी और चिलचिलाती हुई धूप में भी यह नेत्रहीन विद्यापिपासु रोज आठ-दस मील, अपनी लकड़ी ठोकते हुए, चलकर अपने पंडित

गुरुओं के घर पहुँचते, उनके सेवा-सुश्रुषा कर उनके प्रसन्न आशीर्वाद प्राप्त करते और किसी भी प्रकार विद्यासम्पादन का अपना उद्देश्य सिद्ध करते।

इस प्रकार वि. सं. १९६६-६७ तक का प्रायः ९ वर्ष का वाराणसी का विपदाओं से भरा विद्याकाल, अंत में 'न्यायाचार्य' की परीक्षा के समय, अंग्रेज कॉलेज प्रिन्सिपल श्री वेनिस साहब, परीक्षक श्री वामाचरण भट्टाचार्य आदि से प्रसन्न आशीर्वाद प्राप्ति, फिर सं. १९६९ की अंतिम खंड की परीक्षा में कटु अनुभव . . . आदि आदि अनेक प्रसंगों से उनका गुज़रना हुआ। इस प्रकार वि. सं. १९६० से १९६९ तक वाराणसी में गंभीर विद्यार्जन में नव वर्ष गुज़ारते हुए सुखलाल हो गए ३२ वर्ष की आयु के। उनकी व्यापक दृष्टिने तब सामाजिक - राष्ट्रीय चेतना भी अपना ली।

नित्य-नूतन ज्ञान-विद्या-प्राप्ति की सदा जागृत जिज्ञासा वृत्तिने फिर न्यायदर्शन से भी आगे 'नव्य न्याय' सीखने उन्हें प्रेरित किया। इस विषय को सर्वोच्च रूप में सीखने हेतु उनकी अंतर्दृष्टि पूर्व में बिहार की मिथिला नगरी पर पहुँची। मिथिला अर्थात् ज्ञानप्राधान्य के साथ-साथ घोर दारिद्र्य की भूमि। परंतु वहाँ के ज्ञाननिष्ठ पंडितगण ज्ञानोपासना करने में अपना दारिद्र्य-दुःख गौण, विस्मृत कर देते थे।

संकल्पवान सुखलाल यह सारी पूर्व-जानकारी प्राप्त कर मिथिला पहुँचे नये विद्यागुरु की खोज में। बहुत भटके। स्वयं तो दरिद्र ही, सर्वत्र पंडितगुरु भी महादारिद्र्य से भरे हुए। उसमें भी एक नेत्रहीन, गरीब को कौन पढ़ाएँ?

परंतु आख़िर एक दीन पंडितने उन्हें सीखाने आश्रय दे दिया। एक छोटी सी, पंडित के सारे परिवार की, निवास-कोठरी। उसमें इस गरीब, अंधे विद्या-अर्थी को कहाँ रखें ? उन्हें बाहर बँधी हुई गाय की खुली छपरी के नीचे रहना पड़ा। पर वह भी मंज़ूर . . .। रात की कड़कड़ाती सर्दी में उन्हें गाय के घास खाने की जगह 'घासद्रोणी' या 'नाँद' (manger) में घास-फूस ओढ़कर एक फटे कम्बल के सहारे सो जाना पड़ता था। फूस की छपरी-झोंपड़ी और यह घासद्रोणी और मिथिला की कड़ाके की महा-सर्दी !! फिर उस पर ज़ोरों की बरसात !!!

परंतु किसी भी कीमत पर विद्यार्जन करना ही था सो मिथिला में इस प्रकार आरम्भ कष्ट झेलकर भी कर दिया। इसी बीच उनके पास आया हुआ एकमात्र गरम स्वेटर गुरुजी को पसंद आने पर उन्हें प्रेमपूर्वक भेंट कर दिया। उस के बाद अंत में उन्हें दरभंगा में बड़े ही कृपालु अन्य विद्यागुरु मिल गए - महामहोपाध्याय पं. बालकृष्ण मिश्र - प्रखर न्यायशास्त्री, शिष्य-वत्सल, सहृदयी सज्जन एवं कवि। सुखलाल की उनके प्रति सेवा की और उनकी सुखलाल-सुयोग्य सुखलाल-के प्रति की अमीदृष्टि फली . . . ।

यहाँ तक कि इस विद्यार्जन के पश्चात् जब श्रीयुत् बालकृष्णजी बनारस के ओरियेण्टल कॉलेज में प्रिन्सिपाल बन गए तब उनके एवं पं. आनंदशंकर ध्रुव के महामना पं. मदनमोहन मालवीयजी के प्रति अनुरोध के कारण गहन अध्येता सुखलालजी को सन् १९३३ में बनारस हिन्दु युनिवर्सिटी में जैन दर्शन के अध्यापक के रूप में नियुक्त कर दिया गया। अब वे स्वयं पंडित सुखलालजी बन गए थे फिर भी वे विनय-जिज्ञासावश अपने गुरु म.म.बालकृष्णजी की शिक्षा कक्षाओं में भी यदा-कदा जा बैठते थे। बालकृष्णजी के उपकार को भी वे जीवनभर गद्गद्-कंठ से गाते रहे।

पंडितजी का अब अध्यापन-कार्य के साथ ग्रंथसृजन कार्य भी प्रारम्भ हो गया। गहन अध्ययन, सत्यान्वेषी चिंतन, तुलनात्मक संशोधन, मौलिक मूल्यांकन आदि, अपनी सभी खूबियों को मुनिश्री कर्पूरविजयजी की एक सांकेतिक टिप्पणी के बाद, उन्होंने अपने ग्रंथलेखन कार्य में ऐसा तो अनुबंधित किया कि बड़े बड़े मूर्द्धन्य विद्वान् भी उनकी ग्रंथलेखन की भी असामान्य प्रतिभा एवं क्षमता देखकर दंग रह गए। एक के पश्चात् एक-एक से, एक के बाद एक बढ़कर कालजयी चिरंतन ग्रंथनिर्माण उनके अंतःप्रज्ञाप्रसूत् सिद्धहस्तों से होता चला। प्रस्तावित ग्रंथ विषय की गहराई में पैठकर, उस पर किये गए अनुचिंतन को स्पष्टतापूर्वक और बीच-बीच में रुककर भी उनके अनुलेखक को वे जो लिखवाते थे वह देखते ही बनता था। अर्ध-पद्मासन में सीधे मेरुदंड से घंटों बैठे-बैठे, चिंतन की गहराई में डूब डूब कर लिखवाते हुए एकाग्र पंडितजी का दर्शन करना भी धन्य अवसर होता था, एक प्रेरक दृश्य, एक सौभाग्य होता था . . .। पंडितजी का ऐसा धन्य अनुलेखक बनने का उनकी उत्तरावस्था में अहमदाबाद में इस पंक्तिलेखक को भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इससे उनकी सबसे निराली चिंतनशैली, संतुलित

भाषाशैली एवं लेखनप्रक्रिया भी किंचित समझ में आई थी। यह बात तो बादकी थी, परंतु तब वाराणसी, फिर आगरा, फिर पूना, फिर बम्बई और अंत में अहमदाबाद आदि अनेक स्थानों में, अनेक पदों पर रहकर, अनेक रूपों में उनके द्वारा जिन चालीस जितने ग्रंथों-महाग्रंथों का सृजन हुआ, वह इस वर्तमान काल की एक अद्वितीय उपलब्धि है और श्रमण जैन संस्कृति की ही नहीं, समग्र भारतीय संस्कृति की भी मूल्यवान निधि-संपत्ति है। उनकी इस अमूल्य ग्रंथ-निधि का उत्कृष्ट सृजन गाँधीजी के गुजरात विद्यापीठ में भी हुआ।

कितकितने और कौन-कौन से उनके ग्रंथों के नाम लें ? ग्रंथनिर्माण की, 'कर्मग्रंथ' (अनुवाद, विवेचन, विशद प्रस्तावनायुक्त) के तीन वर्ष के घोर परिश्रमपूर्ण संपादन और मुद्रण-प्रकाशन से प्रारम्भ, यह सुदीर्घ, सतत गतिशील और अक्षुण्ण ऐसी यह ग्रंथ परंपरा थी। उसके बाद के, पं. बेचरदासजी के साथ गुजरात विद्यापीठ में नव नव वर्षों तक संपादन-कार्य कर छह छह भागों में प्रकाशित किए गए महाग्रंथ 'सन्मति तर्क' से तो महाप्राज्ञ पंडितजी की अनन्य सृजन-प्रतिभा का भारत और जगतभर के विद्वानों ने लोहा मान लिया। इन में डॉ. हर्मन जेकोबी, प्रो. लायेमन और प्रो. तमूडसे जैसे पश्चिमी विद्वान एवं महात्मा गाँधीजी, BHU के तत्कालीन वाइस चान्सलर भू.पू. राष्ट्रपति डा. एस्. राधाकृष्णन्, कलकत्ता युनिवर्सिटी के वाइस चान्सलर डा. श्यामाप्रसाद मुखर्जी आदि अनेकों का होना ही इस भगीरथ कार्य की महत्ता प्रस्थापित करने के लिए पर्याप्त है। पंडितजी के अन्य संपादित, संशोधित, अनूदित और विवेचित प्रायः मौलिक ग्रंथों में से कुछ थे :-

आत्मानुशास्तिकुलक, कर्मग्रंथ दंडक, पंच प्रतिक्रमण, योगदर्पण, तत्त्वार्थसूत्र, जैनदृष्टि में ब्रह्मचर्य विचार, न्यायावतार, प्रमाण-मीमांसा, जैनतर्कभाषा, हेतुबिंदु, ज्ञानबिंदु, तत्त्वोपप्लवसिंह, वेदवादद्वात्रिंशिका, आध्यात्मिक विकासक्रम, निर्ग्रंथ संप्रदाय, चार तीर्थंकर, समदर्शी आचार्य हरिभद्र, Advanced Studies in Indian Logic and Metaphysics, धर्म और समाज, अध्यात्म विचारणा, भारतीय तत्त्वविद्या, श्रीमद् राजचन्द्र और गांधीजी, दर्शन और चिंतन, आदि आदि और भी अनेक . . . ।

कितने और कैसे गहन-गंभीर ग्रंथों का सर्जन, सर्जन ही नहीं, इन और अन्य आगम-सूत्रों, वेदोपनिषदों, बौद्ध पिटकों का स्मृति-करण भी !!! पंडितजी के सुदीर्घ सान्निध्य से हमने प्रत्यक्ष अनुभव किया कि कितनी गहरी उनकी स्मृतिसंपदा थी !!! विगत २५०० वर्षों के ऐसे समग्र जैन-बौद्ध-वैदिक ग्रंथ सारे उनकी इस स्मृति-निधि में सदा सर्वदा भरे हुए रहते थे। कोई भी प्रश्न किसी भी ग्रंथ के विषय में उनसे पूछें कि उसका संपूर्ण प्रत्युत्तर हाज़िर और वह भी उसके संदर्भ पृष्ठों-प्रकरणों आदि के साथ ! उनके धन्य कंठ में सदा विराजित साक्षात् सरस्वती और उनकी चिरंतन स्मृति में निहित ऐसे ज्ञानकोश के लिए क्या क्या कहें और लिखें ?

अपनी आँखों से देखे हुए, बरसों चरण में बिताए हुए और अपने अंतस् की गहराई में बिठाए हुए ऐसे परमश्रुत, परा-विद्या के धनी प्रज्ञापुरुष के विषय में लिखते लिखते लेखनी रुक जाती है, यह कहकर कि -

"क्या क्या लिखें और ना लिखें? प्रज्ञापुरुषों और पुण्यत्माओं की ऊंचाईयाँ तो आकाशवत् अमाप्य हैं।"

पंडितजी की इन सृजन-ऊंचाईयों की कुछ महती विशेषताएँ थीं -

- आधारभूत लेखन - बिना अल्पोक्ति, अतिशयोक्ति या कल्पित उक्ति का। तुले हुए, यथार्थ शब्दों का चयन।
- सत्यशोधार्थ ऐतिहासिक दृष्टि, मतार्थ या हठाग्रह-मुक्त, निराग्रही, स्याद्वाद शैली की अनेकांतिक पद्धति।
- तुलनात्मक दृष्टि - पूर्वकालीन एवं समकालीन ग्रंथों का अभ्यास। सापेक्ष अध्ययन। राष्ट्रीय और सामाजिक संदर्भों सह।
- अन्य दर्शनों-धर्मों के प्रति समुदार, समन्वयात्मक दृष्टि। दर्शनोपरान्त अन्य विषयों पर भी चिंतन की समग्र दृष्टि।
- ग्रंथों से पार अंतस् की गहराई में पहुँचकर मुक्त, मौलिक चिंतनपूर्ण अनुभूति।

– ऐसी विशेषताओं से पूर्ण उनका ग्रंथनिर्माण, उपर्युक्त कथनानुसार वाराणसी और आगरा के बाद अनेक स्थानों एवं अनेक उच्च संस्थाओं में संपन्न होता रहा। इन सब का निरुपण यहाँ सम्भव नहीं।

पंडितजी की इस ग्रंथसर्जन-प्रतिभा एवं अध्यापन-प्रतिभा के अतिरिक्त उनका महत्व का पहलू था करुणा का, गहरी संवेदशीलता का, गाँधीजी-प्रभावित राष्ट्रीय चेतना एवं अहिंसा के युगानुरूप प्रयोग-विनियोग की महत्ता का।

इस के परिणामस्वरूप उनका निजी जीवन भी संयमी, सत्यप्रिय, सादगीपूर्ण, सेवामय, अल्प से अल्प खर्चीला, स्वावलंबी एवं स्व-परिश्रमी बना रहा। गाँधीजी के आश्रम में, गाँधीजी सह हाथचक्की भी सानंद चलाना इस बात का सुंदर उदाहरण है।

उनकी सत्यप्रियता और क्रान्तिकारिता के उत्स और मूल थे उनकी विवेकपूर्ण ऋतंभरा प्रज्ञा में। यह प्रज्ञा उन्होंने स्वयं में आत्मसात् की थी और श्रीमद् राजचन्द्रजी एवं गाँधीजी में भी देखी और दर्शित की थी।

दृष्टव्य है पंडितजी के स्वयं के शब्दों में, उनके द्वारा प्रबोधित-परिभाषित इस परमोपकारक महाप्रज्ञा का रहस्य –

“वैसे तो किसी न किसी प्रकार की प्रज्ञा सच्चे कवियों, लेखकों, कलाकारों और संशोधकों में होती ही है, परंतु जिसे योगशास्त्र में ‘ऋतंभरा प्रज्ञा’ के रूप में पहचाना-जाना-गया है वैसी प्रज्ञा, प्रज्ञावान माने जा रहे वर्ग-वृंद में भी अंधिकांश में नहीं ही होती है। ऋतंभरा प्रज्ञा की प्रधान विशेषता और लाक्षणिकता यह है कि वह सत्य के सिवा अन्य किसी को संग्रहीत या आत्मसात् नहीं कर सकती। असत्य का अंश अथवा असत्य की छाया भी वह सहन नहीं कर सकती। जहाँ असत्य, अप्राणाकिता अथवा अन्याय देखने में आए, वहाँ वह प्रज्ञा पूर्ण रूप से सुलग उठती है और अन्याय को मिटा देने के दृढ़ संकल्प में ही परिणमित होती है। . . . ऐसी महाप्रज्ञा का उद्गम? शरीर-जन्म में से ही नहीं, संस्कार-जन्म, चित्त-जन्म अथवा आत्म-जन्म की चिन्तना में ही वह लभ्य। जन्म-जन्मांतर की साधना के संचित परिणाम के बिना बाल्यकाल से उसके बीज पाना असम्भव है।”

(– ‘दर्शन और चिंतन’)

ऐसी ऋतंभरा प्रज्ञा श्रीमद् राजचन्द्रजी में थी, जिसे स्वयं ही ऋतंभरा प्रज्ञाधारक महात्मा गाँधीजी ने ही प्रमाणित किया था। देखें, परावाणी और परमसत्य के दृष्टा और उद्गाता ऐसे युगप्रधान श्रीमद्जी के द्वारा वह किस प्रकार अभिव्यक्त होती थी यह गाँधीजी के शब्दों में -

"वे (श्रीमद्जी) कई बार कहते थे कि चारों ओर से यदि कोई भाले या बरछी का घाव करे तो वह सहन कर सकता हूँ; परंतु जगत में जो झूठ, पाखंड एवं अत्याचार चल रहे हैं, धर्म के नाम से जो अधर्म प्रवर्तित हो रहे हैं, उस की पीड़ा उनसे सहन नहीं हो सकती; अत्याचारों से उनका चित्त क्षुब्ध होकर महाव्यथित होकर, विद्रोह कर बैठता था, क्योंकि यह सब उनके लिए असह्य था। यह मैंने कईबार देखा है। उनके लिए सारा जगत अपने सगे-सम्बन्धी जैसा था। अपने भाई या बहन को मरते देखकर हमें जो क्लेश होता है, उतना ही क्लेश उन्हें जगत में दुःख को, मृत्यु को, देखकर होता था।"

(- 'श्रीमद् और गाँधीजी' : सं. श्री. पुण्यविजयजी 'जिज्ञासु' पृ.८०, गुजराती से अनूदित)

श्रीमद्जी जैसे परमकृपालु युगपुरुष की कितनी करुणा ! कितनी पर-पीड़ा-द्रवित जागृत, ऋतंभरा प्रज्ञा !!

श्रीमद्जी एवं गाँधीजी दोनों में पंडितजी द्वारा देखी और दर्शित की गई यह 'ऋतंभरा प्रज्ञा' स्वयं पंडितजी में ही निहित थी। हमने अपनी आँखों से देखा हुआ उनका साक्षात् जीवन और उनका समग्र मौलिक चिंतनपूर्ण सत्यान्वेषी ग्रंथसर्जन इसके प्रमाण हैं।

जैसा उनका गहन-चिंतन-अध्ययनपूर्ण यह ग्रंथसृजन था, वैसा ही था उनके द्वारा किया गया अनेक गहन अध्येता छात्रों और प्रबुद्ध चिंतकों का निर्माण। इन दोनों प्रकार के निर्माणों द्वारा श्रमण जैन संस्कृति को ही नहीं, समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति को किया गया उनका प्रदान, इस युग में असाधारण है। गुजरात ने भारतीय संस्कृति को जो श्रीमद् राजचन्द्रजी एवं महात्मा गाँधीजी जैसे रत्नों का महादान दिया है उसी पंक्ति में अंतर्प्राज्ञ पंडितजी का भी स्थान है। भविष्य के इतिहासविद् द्वारा यह सिद्ध होनेवाला है।

जैन दर्शन में निहित अतिगहन विश्वोपकारक सत्यों का उद्घाटन, उनका अनेकांत अहिंसा आदिका वर्तमान में गाँधीजी जैसे युगपुरुषों द्वारा श्रीमद्जी-प्रदत्त दृष्टिपूर्वक प्रयोगीकरण और व्यक्ति नहीं, परंतु गुणप्रधान एवं आत्मतत्त्वप्रधान नवकार मंत्र की आराधनो को छोड़कर जड़-तत्त्व आश्रित मंत्र-तंत्रों की यंत्रवत् दुस्साधना का उन्मूलन - आदि आदि विशेषताएँ पंडितजी के अंतस्-प्रज्ञापूत जीवन में दृष्टिगत होती हैं। गहरे पानी पैठ कर उन्होंने विशुद्ध ज्ञान के मोती ही मोती पाए हैं। उनकी यह गहन-चिंतन-अनुचिंतन की साधना ने उन्हें अपने उस शुद्ध बुद्ध स्वयंज्योति आत्मस्वरूप का बोध करा दिया है, साक्षात्कार करा दिया है, जिसका कि श्रीमद्जी ने अपनी 'आत्मसिद्धि' में यह निरुपण किया है -

''शुद्ध बुद्ध चैतन्यघन, स्वयंज्योति सुखधाम।
बीजुं कहीए केटलुं, कर विचार तो पाम।।''

अर्थात् और अधिक क्या और कितना कहें? वह अनंत ज्योतिर्मय स्वयंज्योति शुद्ध-बुद्ध-चैतन्यघनात्मा तुम्हारे भीतर ही तो निहित, गुप्त और सुप्त है, चिंतन के गहरे सागर में डूबकर उसे बाहर उठा ले आओ और उसका साक्षात्कार कर लो।

तो ऐसे स्वयंज्योति शुद्धात्मा का साक्षात्कार पंडितजी ने प्राप्त कर लिया था। अपनी लघुता, विनम्रता और अहंशून्यतापूर्ण 'मानकषायविहीन' वृत्ति से वे भले ही कहते और लिखते थे कि ''मैं कोई अनुभवज्ञानी-आत्मज्ञानी व्यक्ति नहीं हूँ, शास्त्रों का ही एक अध्येता हूँ -'' इत्यादि। परंतु हमने अपने अनुभव से देखा और पाया है कि वे विशुद्ध आत्मज्ञानी-आत्मदृष्टा थे ही। जैन परिभाषा में कहें तो ज्ञान-पंचक में से प्रथम दो मतिज्ञान-श्रुतज्ञान तो उन्हें सिद्ध ही थे, अवधि-मनःपर्यव को भी स्पर्श करते हुए वे पंचम ज्ञान बीज-केवलज्ञान-प्राप्ति की ओर अग्रसर हो चुके थे। 'समकित' और 'केवलज्ञान' जैसे शब्दों की तोते की रटवाली पारंपरिक, शाब्दिक, शास्त्रीय, अनुभूतिशून्य परिभाषा के उस पार उन्होंने 'अनुभव! तू है हेतु हमारो' कहनेवाली महायोगी आनंदघनजी की, 'अनुभवगोचर मात्र रह्युं ते ज्ञान जो।' का भावनागान करनेवाली श्रीमद् राजचंद्रजी की, 'निस्पृह देश सोहामणो रे'वाली 'निज' की 'अनुभूति-भूमि' में उन्होंने प्रवेश कर लिया था। पंडितजी के ही नहीं, अंतस् स्वरूप के किंचित् साक्षात् स्वयं परिचय की इतनी सांकेतिक वार्ता ही यहाँ पर्याप्त है।

सजग अध्येता को इस बात की कुछ झाँकी और पुष्टि उनके इन 'प्रज्ञा संचयन' के लेखों में से प्राप्त होगी। तीन प्रकार के विभागों में – श्रीमद्‌जी विषयक, जैनदर्शन विषयक और गाँधीजी विषयक – चुने हुए उनके चंद लेखों से यह परिलक्षित हो सकेगी। उनके अनेक ग्रंथों, अनेक प्रदानों, अनेक संस्मरणों, अनेक पत्रों आदि को मेरी पूर्वोक्त कृतियों में विस्तार से देख पाएँगे। यहाँ पंडितजी के एकाध-दो मुझ पर लिखे गए निजी पत्रों से यह प्राक्कथन समाप्त करेंगे।

"आत्मसिद्धि का अनुवाद जब भी श्रवण करवाना हो तब श्री दलसुखभाई, नगीनदास, भायाणी और विमलाताई योग्य गिने जाएँगे . . . मैं तो आजकल प्रायः सारा ही गंभीर श्रवण एक प्रकार से छोड़कर शाँति-सेवन करता हूँ . . . तुमने जो प्रयत्न किया है उसका फल प्राप्त होगा ही। . . . तुम्हारे साहित्य, संगीत और ध्यान के मार्ग में विकास होता ही रहेगा . . .।" (२५.४.१९७२ – अहमदाबाद)

". . . तुम तुम्हारी कला में विकास करते जा रहे हो यह मैं समझता हूँ . . . तुमने जो (मेरी) सेवा की माँग की है वह तुम्हारी सच्ची सहृदयता है। तुम्हारी प्रकृति सेवालक्षी है, इसका मुझे अनुभव है। परंतु वैसे किसी को उतनी दूर से कुटुम्ब-धर्म छुड़वाकर बुलाया नहीं जा सकता। वह योग्य भी नहीं है। फिर भी तुम्हारी भावना का मेरे मन में बड़ा मूल्य है। तुम्हारा सभी का कल्याण हो।" (२२.१.१९७७ - अहमदाबाद)

पूज्य पंडितजी के इस कल्याण-कामना भरे पत्र का मेरी गंभीर बीमारी के कारण तब प्रत्युत्तर विलम्ब से इस प्रकार दे पाया –

"परमोपकारक पूज्य पंडितजी,

सविनय प्रणाम। आपके दि.२२.१.१९७७ के हमारे लिए आत्मीयतापूर्ण पत्र का, प्रथम तो आपकी सेवा में उपयोगी होने के बजाय आपकी हमारे चिंता व सद्‌भावना को पढ़कर दिनों तक गद्‌गद् हो जाने के कारण और बाद में प्रवृत्ति-प्रवासों में व्यस्त हो जाने के कारण, इतने विलम्ब से उत्तर दे रहा हूँ। इस लिए अत्यन्त संकोच के साथ क्षमा चाहता हूँ। अनेकदा (यह लिख रहा हूँ तब भी) अश्रुपूर्ण यह संवेदना अनुभव की है कि आप तो सर्वथा निःस्पृह, परंतु आप के हम पर के अपार उपकारों के ऋण से हम कब मुक्त हो सकेंगे? मेरे चौदह वर्ष लगभग के

आपके चरणों में प्रत्यक्ष सान्निध्य के काल में (१९५६ के विद्याकाल से लेकर १९७० तक के विद्यापीठ के अध्यापन-कार्यकाल तक) आपने मेरे-हमारे वैचारिक, विद्याकीय, शारीरिक, व्यावसायिक (नौकरी आदि के) ही नहीं, वैयक्तिक, व्यावहारिक-पारिवारिक समग्र गठन हेतु और प्रश्नों के हेतु सतत जो महत्वपूर्ण योगदान दिया है और अन-गढ़े पत्थर-से प्रारूपमें से अब जिस बाह्यांतर अवस्था से हम गति कर रहे हैं, वह सब बारबार मेरी स्मृति पर उभरकर आता है और आपकी लेश मात्र भी सेवा में नहीं आ सकने के अवसाद से बेचैन कर देता है। बेंगलोर से इतने दूर और हमारी व्यवहार-व्यवसाय-विद्या की प्रवृत्ति देखते हुए आपकी बात ठीक ही है कि हमसे वहाँ आया नहीं जा सकता, परंतु हृदयभाव और प्रार्थना रहते हैं कि आप की सेवा के निमित्त कोई अवसर प्राप्त हो जाए।'' . . .

''इसके पूर्व अनेकविध रिकार्ड-कॅसेट कृतियाँ संशोधन, उच्चार शुद्धिपूर्वक, आवाज़ को प्रमुखरूप एवं संगीतवाद्यों को गौणस्थान देकर, नई तैयार कीं। इनमें बृहत्शांति-ग्रहशांति, प्रभात मंगल (श्रीमद् वचनाधारित प्रातःकालीन पारंपरिक स्मृतिपद), श्री कल्याणमंदिर स्तोत्र, राजुल-चन्दनबाला, इत्यादि निर्मित की गईं। ये सब बहती रहती हैं। इनमें सब से बड़ा गठन-प्रदान-योगदान आप का है, यह कभी भी भुलाया नहीं जाता। सतत स्मृति रहती है, फिर भले ही पत्र लिख न पाता होऊँ। (पत्र लेखन हेतु शांत-निवृत्ति होनी चाहिए, जो शायद मेरी इस बीमारी और आराम की अवस्था ने प्रदान की)।'' . . .

''विदेश जाने से पूर्व आपकी सेवा का एकाध माह भी लाभ मिल जाए ऐसी भावना रहती है जो परमकृपालु पूर्ण करें वैसी प्रार्थना मात्र करता हूँ।''

''मेरे समाचारों के साथ अंतस्-भाव व्यक्त करते हुए मेरे इस पत्र में आज बहुत कुछ लिखा गया। आप भी सुनकर श्रम एवं संवेदन अनुभव करेंगे, जो नहीं चाहूँगा कि आप अधिक अनुभव करें। अतः अब रुकूंगा। सुमित्रा, बालिकाएँ सभी प्रणाम लिखवातीं हैं। आपका स्वास्थ्य समाधिपूर्ण बना रहे वैसी प्रार्थना के साथ - प्रताप के अनेकशः प्रणाम।'' (३.११.१९७७ - बेंगलोर)

पूज्य पंडितजी के पत्र-प्रत्युत्तर में मेरा यह पत्र भी, पंडितजी के पत्र की भाँति अंतिम ही रहा, जिसका प्रत्युत्तर उन्होंने मौन से ही दिया और फिर तो थोड़े ही समय में वे 'महामौन' में संचार कर गए - २ मार्च १९७८ के दिन उन्होंने अहमदाबाद में

अपना देहत्याग कर दिया। ९७ की उनकी आयु के साथ उन्मुक्त प्रज्ञा के, 'ऋतंभरा प्रज्ञा' के एक युग का अंत हो गया।

विधाता ने, विश्व ने ऐसा विरल परंतु 'विद्या-परवश' फिर भी अपने प्रचंड परम पुरुषार्थ से 'स्व-वश'ही 'स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल, स्व-भाव' में विचरने वाला विद्या पिपासु विद्या-महासाधक कभी देखा होगा अपने अनादिकालीन सुदीर्घ इतिहास में?

अभूतपूर्व, अविच्छिन्न, अप्रतिबद्ध, अखंड, प्रतिकूल-प्रवाह विरुद्ध तैरनेवाला अनन्य पुरुषार्थी सुखलाल जैसा माई का लाल कभी पैदा हुआ है विराग वीतराग और विद्या-परा अपरा विद्या के विशाल विश्व में ?

फिर भी ऐसे अद्वितीय विद्यापुरुष का कोई स्मृति स्थान उनके अक्षर-देह साहित्य-ग्रंथों को छोड़कर-इस विश्व में, भारत में, अंतिम उपासना-क्षेत्र अहमदाबाद में ? उनका स्वयं का नहीं, उनकी विश्व-विद्या वितरण का?

उनके विदेह गमन के बाद जब जब अहमदाबाद जाता हूँ तब तब खड़ा रह जाता हूँ नगरमध्य के उनके विद्योपवन 'सरित् कुंज' के स्थान पर . . . एक निःश्वास सह परंतु पाता हूँ कि जहाँ उनके नाम का, उनकी परिकल्पना का विश्वविद्यालय निर्मित होना चाहिए था, वहाँ न तो वह पुरातन 'सरित् कुंज' है, न वह 'चिकु-निकुंज'। बस शेष हैं भीतर अंतस् में उनका स्मृति-पुञ्ज और बाहर वहाँ खड़ा है केवल 'अर्थ-कामी जगत की बदली हुई कॉन्क्रेटी इमारत का जंगल' !! और पुरातन सरितकुंज नामका केवल एक स्वप्न !!!

एक गहरा अवसाद लिए लौट आता हूँ हंपी रत्नकूट श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम की सुरम्य पर्वतिका पर, कि जहाँ ऐसे विश्वविद्यालय का निर्माण आर्षदृष्टा-प्रज्ञापुरुष पंडितजी ने इंगित-चिह्नित किया था और जिसे प्राज्ञ परमगुरु सहजानंदघनजीने अग्रज सह प्रमाणित-प्रास्तावित किया था . . . पर वहाँ भी ? मेरे इस भीतरी अवसाद को लेकर अपनी 'दक्षिणापथ की साधनायात्रा' के 'पुस्तकार्पण' में यह लिखना पड़ा - 'हम्पी के आश्रम-तीर्थ पर वस्तुपाल-तेजपाल-वत् अपूर्व जिनालय-जैन विश्वविद्यालय दोनों निर्माण करने की भव्य भावनाएँ स्वप्नदृष्टा बनकर सद्गुरुदेव सहजानंदघनजी के चरण में बैठकर बनाईं, प्रयास शुरु किये . . . परंतु वे सब साकार बने उसके पूर्व ही वे दोनों (अग्रज एवं

गुरुदेव) अचानक, अप्रत्याशित रूप से, असमय ही स्वधाम सिधार गए। पंछी के नीड़ नष्ट हुए . . .पर पर ऊपर तीर भोंके गए . . . और स्वप्न अधूरे रहे, जीवन प्रवाह अनवरत धँसते रहे . . . कब होंगी वे विराट भावनाएँ इस लघु अल्पात्मा से, अल्पजीवन से अब पूर्ण?'

और पुनः आता हूँ पंडितजी की उस प्रज्ञाभूमि 'सरित् कुंज' के भग्नावशेष के जड़वत् खड़े एकमात्र नाम-पट्ट-धारक खम्बे के पास।

पलभर वहाँ खड़े खड़े खो जाता हूँ पुरातन 'सरितकुंज' की एवं उसके उद्यान में घूम रहे पावन प्रज्ञा पुरुष पंडितजी की दर्शन-स्मृति में। . . . और पाता हूँ उस स्मृति लोक में -

यही वह बड़ी पक्की दीवारोंवाला, हँसता झगमगाता हुआ, सरित् कुंज का प्रासाद . . . ! आगरा-वाराणसी से आकर एवं साबरमती-विद्यापीठ और अनेकांत विहार से भी अधिक अलख जगाई यहीं पर - विद्या वटवृक्ष पंडितजी ने . . .!! यहीं से उठ रहा है गुञ्ज-अनुगुञ्ज भर रहा है उनकी 'पश्यन्ति' के प्रदेश-पार का परा-वाणी का घोष -

''प्रत्येक मनुष्य व्यक्ति अपरिमित शक्तियों के तेज का पुञ्ज है, जैसा कि सूर्य।'' (सं. योगविद्या : दर्शन और चिंतन - पृ. २३०)

और पश्चिम द्वार सरितकुंज के पूर्व में उदित सूर्य और ईशान कोण में स्थित पंडितजी के उस चिरंतन विद्या-कक्ष से प्रतिघोष उठ रहा है पच्चीस सौ वर्ष पूर्व की परमप्रभु महावीर की प्रशान्त प्रज्ञापूर्ण देशना-वाणी का, पंडितजी की उस परावाणी के घोष को प्रमाणित करता हुआ -

'अहो! अनंतवीर्यमयमात्मा!' (अनंत शक्तियों का पुञ्ज है यह आत्मा!)

फिर ये दोनों घोष-प्रतिघोष सतत घूमराते रहते हैं, छाए रहते हैं 'सरित् कुंज' के समग्र वातावरण पर और सम्मिलित होकर, झकझोरते हुए प्रश्न उठाते हैं वहाँ से बेखबर गुज़र जानेवालों और उस पुरातन विद्या-साधन-आश्रमवत् सरित् कुंज को गिरानेवालों से -

''तुमने कभी देखा, पहचाना, यहीं मेरी इसी पावनभूमि पर बस गए, अनंत शक्तियों के पुञ्ज एक पवित्र प्रज्ञापुरुष को? . . . यहाँ उसकी कोई स्मृति? उसकी न

सही उसके अभीप्सित विद्यालय-विश्वविद्यालय की कोई हस्ती भरी स्मृति? . . .
क्यों नहीं ऐसी निर्मिति यहाँ पर? . . . युगोंयुगों के बाद ही पैदा होता है ऐसा फूल
इस चमन मैं, पर उसकी लेशमात्र न स्मृति? इतनी शीघ्र विस्मृति?''

परंतु इस प्रश्न-श्रृंखला का कृतघ्न, वास्तविक परिचय-पहचान विहीन विश्व से कोई प्रत्युत्तर नहीं था . . .। निकट के कालखंड से पुकार रहे थे इस काल के प्रथम नहीं पहचाने गए एक परमपुरुष -

''सत्पुरुषों की पहचान दुर्लभ होती है।'' (सं: श्रीमद् राजचन्द्र)

और इन सारे घोष-प्रतिघोषों को अपने अंतस् में संजोए हुए मैं लौटा अपने उस स्मृति-लोक से . . . ।

प्रज्ञापुरुष के इस 'प्रज्ञा-संचयन' द्वारा उनकी स्मृति को चिरस्थाई बनाने में निमित्त सभी को, विशेषकर मूर्द्धन्य विद्वान् डॉ. जितेन्द्र शाह (निर्देशक, ला. द. भारतीय संस्कृति विद्यामंदिर, अहमदाबाद) को, उनके मूल्यवान 'पुरोवचन' के लिए एवं एक अनाम मित्र को उनकी स्वल्प अर्थसहाय के लिए धन्यवाद ज्ञापन करते हुए अपनी श्रद्धांजलि दी उस परमोपकारक प्रज्ञात्मा को, उनकी अभीप्सित-आदेशित प्रज्ञा विश्वविद्यालय के अब भी परिसर्जना का संकल्प लिए -

''होंगे ही पार, आप सर्व का आशीषानुग्रह आधार,
छेदकर कंटक, भेदकर पर्वत-प्रतिकूल पारावार,
आप सम पुरुषार्थ धार, जगाकर आत्मशक्ति आगार,
श्रद्धा सभर सिद्धार्थ, जीवनान्ते - 'समाहिवरमुत्तमं' धार ।।''

अपनी सारी प्रतिकूलताओं के होते हुए भी टाइपोसेट - टंकन एवं मुद्रण कार्य सुचारू रूप से संपन्न कर देने के लिए श्री अंशुमालिन् शहा (इम्प्रिन्ट्स्) एवं श्री चंद्रप्रकाश (सी.पी.इनोवेशन्स्) के हम अत्यंत आभारी है।

- प्रतापकुमार टोलिया

बेंगलोर

कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य एवं
युगदृष्टा श्रीमद् राजचन्द्रजी जयंती -
कार्तिक पूर्णिमा, १०.११.२०११

पंडितजी प्रेरित-प्रस्तावित एवं सहजानंदघनजी-प्रमाणित

आंतर्राष्ट्रीय आत्मविद्या जैन विश्वविद्यालय

– एक स्वप्न : एक आर्ष–दर्शन : एक परिकल्पना –

परमध्यान की अनुभूति की धन्य पलों में परमगुरुओं द्वारा दृष्ट, अभिव्यक्ति रूप में परा–वाणी–प्रसूत और इस आत्मा की स्वयं की अभीप्साओं द्वारा सेवित . . . ऐसा एक आर्ष–दर्शन, एक स्वप्न सृजित हुआ।

श्रीमद् राजचन्द्रजी प्रणीत 'आत्म'लक्ष्य–आधारित ध्यान–ज्ञान–भक्ति–सेवा–कर्म की स्वयं – समाज उभय की समग्रतापूर्ण, संतुलित, संपूर्ण साधना सह, संप्रदायातीत उन्मुक्त समन्वय दृष्टि अनुसार का, जैनविद्याओं का अनुशीलन, अध्ययन, अध्यापन प्रारम्भ हो . . .

और वह भी प्रदूषित नगरों में नहीं, प्रशांत वनोपवनों में प्रकृति की गोद में, एकांत गिरिकंदराओं और शांत सरितातटों पर, सर्वज्ञों और प्राक् ऋषिओं ने बोधित किए अनुसार –

''उपत्वरे गिरिणाम्, संगमे च नदीनाम्, धियां विप्रो अजायत।।''

– ऐसे प्रबुद्ध अभ्यासी के निर्माणार्थ सृजित हो – 'परा–पश्यन्ति' – ऐसी वीतरागवाणी–जिनवाणी–वर्धमान भारती – जिनभारती का विश्वविद्यालय, जैनविद्याओं सहित सर्व सार्थक, श्रेयकारी विद्याओं का जैन विश्वविद्यालय।

इस हेतु निमंत्रित कर रहे साबरमती से तुंगभद्रातट की सप्राण गिरिगुभाओं के बुलावे . . .

में उसका बीज रोपित हुआ और उसके
दक्षिणापथ की इस साधनायात्रा में उसका बीज रोपित हुआ और उसके दक्षिणापथ की इस साधनायात्रा आयोजन। परमगुरुओं ने

दक्षिणापथ की इस साधनायात्रा में उसका बीज रोपित हुआ और उसके संधानपथों में होता रहा उसे अंकुरित करता हुआ विशद् आयोजन। परमगुरुओं ने परमकृपा की और इस अल्पात्मा को इस हेतु योग्य समझकर 'भीतर में' और 'अतीत में' दृष्टि करवाई।

दिखाई दिया वहाँ शतियों का एक बड़ा रिक्तत्व, एक असामान्य अभाव, एक महाघोर प्रमाद जैनों का - उपर्युक्त उच्च कोटि का एक भी विराट जैन विश्वविद्यालय नहीं निर्मित करने का : श्रमण संस्कृति की ज्ञान-अर्थ-तप-आचार-सत्ता सर्वरूप से अतिसमृद्ध परंपरा और विरासत होते हुए भी! अन्य परंपराओं के अजन्ता-इलोरादि कलासाधनालय ही नहीं, तक्षशिला और नालन्दा जैसे विश्वविद्यालय भी निर्मित हुए (- नालन्दा कि जहाँ श्रमण भगवान महावीर के चौदह चौदह चातुर्मास संपन्न हुए और जहाँ प्राज्ञ श्रावकजन बसते रहे, फिर भी !!) परंतु जैन विश्वविद्यालय (अभी हाल के कुछ अपर्याप्त एवं पंगु प्रयत्नों के सिवा) अंतिम २५०० वर्षों में कहीं भी नहीं !!!

इस दरिद्री दर्शन से अंतस् की गहराई में उदासी एवं वेदना से भरा हुआ एक बड़ा बेचैनीभरा अवसाद उत्पन्न हो गया . . . साबरमती तट पर और तुंगभद्रा तटपर उक्त उपकारक प्रत्यक्ष परमगुरुजन प्रज्ञाचक्षु पद्मभूषण डॉ. पं. सुखलालजी और योगीन्द्र युगप्रधान श्री सहजानन्दघनजी के चरणों में बैठकर अग्रजबंधु संग उसकी गहन चिन्तनाएँ चलीं, विविध आयोजन हुए, अभ्यासक्रम रचे गए, सहयोगी खोजे गए, साहित्य-संगीत के अनेक सृजन आरम्भ हुए, विश्वविदेशों में संदेश-सम्पर्क स्थापित किए गए . . . इसी बीच उक्त उपकारक महापुरुष तो महाविदेह-स्वधाम सिधार गए और अनेक अंतरायों एवं प्रतिकूलताओं के पहाड़ खड़े हुए! माथे पर एवं साथ में रह गए उनके आज्ञा, आशीर्वाद एवं महासबल प्राणबल-योगबल . . .

परिणामतः भीतर में सतत अनुगुञ्जित होते रहे साबरतट एवं तुंगातट की गिरिगुफाओं के घोष-प्रतिघोष . . .

उनकी गुञ्ज-प्रतिगुञ्जों को, वीतरागवाणी को, भारत में ही नहीं, विश्वभर में अनुगुञ्जित करने के परमगुरुओं के उन परम आदेशों के अनुसार वे प्रतिगुञ्जित होती रहीं - भारत की तुंगभद्रा, कावेरी और गंगा-यमुना से लेकर अमरिका की मिसिसिपि, डल, कोलोराडो आदि, इंग्लैंड की थेम्स और योरप की वोल्गा जैसी

अनेक सरिताओं तक शिबिरों, ध्यान-संगीत-प्रवचनों के त्रिविध कार्यक्रमों के द्वारा !

. . . अब, ऐसी अनेक वीतरागवाणी - विदेशयात्राओं के पश्चात् कि जिन में परमगुरुओं के प्रत्यक्ष प्रतिनिधि-वत् आत्मद्रष्टा वात्सल्यमयी माताजी के आज्ञा-आशीर्वाद सदा-सर्वदा साथ में रहे - विदेशों के अनेक प्रबल और प्रलोभनपूर्ण निमित्तों के निमंत्रण होते हुए भी, परमाज्ञानुसार प्रथम भारतभूमि पर ही, उस वीतरागवाणी के विश्वविद्यालय की भूमिका -रूप में फलित होना प्रारम्भ हो चुकी है वह परिकल्पना : तुंगभद्रातट की रत्नकूट श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम की परमगुरु सहजानंदघनजी की योगभूमि पर के उसके जिनालय सहित के विस्तार पूर्व बेंगलोर में, वर्धमान भारती - जिनभारतीआंतरराष्ट्रीय जैन विद्या विश्वविद्यालय के छोटे-से केन्द्र के रूप में !

परमगुरुओं का योगबल उसे शीघ्र साकार करेगा ही ।

- अनंतयात्री दिव्यदर्शी

लेखांक १

श्रीमद् राजचन्द्र
एक समालोचना

पद्मभूषण प्रज्ञाचक्षु डा. पंडित श्री सुखलालजी
(मूल गुजराती से अनूदित गहन अध्ययन-चिंतनपूर्ण महानिबंध)

ववाणिया, मोरबी, राजकोट आदि स्थानों में जहाँ श्रीमद्जी का आना - जाना और रहना विशेषतः होता था, वे स्थान मेरे जन्मस्थान तथा निवास से कुछ अधिक दूर नहीं माने जा सकते हैं। उन स्थानों की बात तो ठीक, अपने जीवन के अंतिम दिनों में वि.सं. १९५६ के आसपास श्रीमद्जी वढवाण केम्प में रहे थे वह स्थान तो मेरे गाँव से एक घंटे मे पहुँच सकें उतना ही दूर है। उतना ही नहीं, मेरे परिवार के लोगों की दुकान तथा मेरे भाई, पिताजी आदि का ठहरने का स्थान भी वढवाण केम्प में होने के कारण वह स्थान मेरे लिए सुगम ही नहीं, निवासस्थान के समान ही था। मेरी उम्र भी उस समय करीब उन्नीस साल के आसपास थी जो अपरिपक्व तो नहीं ही मानी जा सकती। दृष्टि के जाने के बाद के तीन वर्षों में सांप्रदायिक धर्मशास्त्र के अल्प किंतु गहन ऋचि के साथ किये गये अभ्यास के कारण मेरी जिज्ञासा ने उत्कट रूप धारण किया था यह मुझे याद है। उन दिनों मेरा सारा समय शास्त्रश्रवण और यथा संभव उनको आत्मसात् करने में - चिंतन-मनन करने में ही व्यतीत होता था। ऐसा होते हुए भी मैं उस समय एक बार भी श्रीमद्जी को प्रत्यक्ष क्यों न मिल सका ऐसा विचार मुझे पहले भी कई बार आया है और आज भी आता है। इसके लिए मुझे एक ही कारण लगता है कि धार्मिक संकीर्णता सत्यान्वेषण तथा नूतन प्रस्थान के लिए बड़ी बाधारूप सिद्ध होती है।

परिवार, समाज तथा उस समय के मेरे कुलधर्मगुरुओं के संकीर्ण मानस के कारण ही ऐसे योग्य पुरुष से मिलने की कल्पना भी उस समय मेरे मन में जाग्रत न हुई या साहस ही न हुआ। जिन लोगों के बीच मेरा अधिकांश समय व्यतीत होता था उन स्थानकवासी साधुओं, आर्याओं और कभी कभी उनके भक्तों के मुख से उन दिनों श्रीमद्‌जी के विषय में तुच्छ अभिप्राय ही मुझे सुनने को मिलता था। इस कारण से मेरे मन में अनायास ही यह धारणा दृढ़ हो गई थी कि राजचंद्र नामक कोई गृहस्थ है जो बुद्धिमान तो है, परन्तु स्वयं को भगवान महावीर के समान तीर्थंकर मनवाता है और अपने भक्तों को अपने चरणों मे झुकाता है तथा अन्य किसीको धर्मगुरु या साधु मानने से इन्कार करता है, इत्यादि ...। मुझे स्वीकार करना चाहिए कि उस समय अगर मेरा मन जाग्रत होता तो कुतूहलदृष्टि से इन मूढ़ संस्कारों की परीक्षा हेतु भी वह मुझे श्रीमद् के पास जाने के लिए प्रेरित करता ... अस्तु ...। कुछ भी हो, परंतु यहाँ मुख्य वक्तव्य यह है कि प्रायः सारी सुविधा होते हुए भी मैं प्रत्यक्ष रूप से श्रीमद्‌जी से मिल न सका, अतः उस दृष्टि से उनके प्रत्यक्ष परिचय से उनके विषय में कुछ भी कहने का मुझे अधिकार नहीं है।

उस समय प्रत्यक्ष परिचय के अतिरिक्त श्रीमद्‌जी के विषय में कोई यथार्थ जानकारी प्राप्त करना भी अत्यन्त कठिन था और शायद अनेक लोगों के लिए आज भी वह उतना ही कठिन है। दो पूर्णतः विरुद्ध धाराएँ तब भी प्रवर्तित थीं और आज भी प्रवर्तित हैं। जो उनके विरोधी हैं उनकी, श्रीमद्‌जी के लेखों - ग्रंथों का अध्ययन किये बिना, चिंतन - मनन के द्वारा परीक्षण किये बिना ही, एकांगी धारणा दृढ़ हो गई है, एक सांप्रदायिक मान्यता दृढ़ हो गई है, कि, श्रीमद् स्वयं धर्मगुरु बन कर धर्ममत प्रवर्तित करना चाहते थे, साधुओं एवं मुनियों को वे मानते नहीं थे, क्रियाओं का उच्छेद करते थे तथा तीनों जैन संप्रदायों को मिटा देना चाहते थे, इत्यादि। जो उनके एकान्तिक उपासक हैं उनमें से अधिकांश लोगों को श्रीमद् के लेख इत्यादि का विशेष परिचय होते हुए भी और कई लोगों को श्रीमद् के साक्षात् परिचय का लाभ प्राप्त हुआ था फिर भी, मैने देखा है कि श्रीमद् के विषय में उनका ऐसा भक्तिजनित अभिप्राय दृढ़ हो गया है कि श्रीमद् अर्थात् सर्वस्व तथा 'श्रीमद् राजचंद्र' पढ़ो तो उसमें सब कुछ समाविष्ट हो गया। इन दोनों अंतिम छोर पर आनेवालों के उदाहरण उनके नामों के साथ जानबुझकर ही मैं नहीं दे रहा हूँ। ऐसी पूर्णतः संकीर्ण भावनाओं वाली परिस्थिति न्यूनाधिक अंशों में आज तक प्रवर्तित

है, किन्तु प्रायः पिछले बीस वर्षों से इस विषय में भी परिवर्तन आया है और एक नूतन युग का आरंभ हुआ है ।

जब से पूज्य गाँधीजी ने भारत में बसने हेतु कदम रखा तब से विभिन्न प्रसंगों पर उनके मुख से श्रीमद्जी के विषय में कोई न कोई उद्गार निकलते ही रहे जिससे जड जैसे जिज्ञासु लोगों के मन में भी ऐसा विचार उठने लगा कि सत्यप्रिय गाँधीजी जिसके विषय में कुछ कहते हैं वह व्यक्ति सामान्य तो हो ही नहीं सकता । इस तरह गाँधीजी के कथनजनित आंदोलन के फलस्वरूप अनेक लोगों के मन में श्रीमद् के विषय में जानने की – जिज्ञासा की लहर उठी । दूसरी ओर 'श्रीमद् राजचंद्र' पुस्तक तो मुद्रित था ही । उसकी दूसरी आवृत्ति भी गाँधीजी की संक्षिप्त प्रस्तावना के साथ प्रसिद्ध हुई और उसे पढ़नेवालों की संख्या में भी वृद्धि होती गई । श्रीमद् के जो एकान्तिक भक्त नहीं थे ऐसे जैन या जैनेतर तटस्थ अभ्यासी एवं विद्वानों के द्वारा भी ऐसे व्याख्यान हुए, जिनके द्वारा श्रीमद्जी के विषय में यथार्थ जानकारी प्राप्त हो सकती थी । परिणामतः तटस्थ लोगों के एक छोटे से समूह में श्रीमद्जी के विषय में वास्तविक जानकारी प्राप्त करने की प्रबल जिज्ञासा ने जन्म लिया और इन लोगों ने स्वयं ही 'श्रीमद् राजचंद्र' पुस्तक के अध्ययन के द्वारा अपनी जिज्ञासा का शमन करना शुरु कर दिया है । इस प्रकार के लोगों के समूह में केवल जैन कुल के ही लोगों का समावेश नहीं होता है, इस समूह में तो जैनेतर लोगों की संख्या ही कहीं अधिक है और उनमें भी अधिकतर लोग तो आधुनिक शिक्षा प्राप्त लोग भी हैं ।

मेरे स्वयं के विषय में ऐसा हुआ कि आरंभ में जब मैं काशी में सांप्रदायिक जैन पाठशाला में रहकर अभ्यास करता था तब एक दिन रा. भीमजी हरजीवन 'सुशील' श्रीमद् के लेख (संभवतः 'श्रीमद् राजचंद्र' ही) मुझे सुनाने के लिए मेरी कोठरी पर आये । तभी उन दिनों वहाँ विराजमान तथा आज भी जीवित मुनि – दुर्वासा नहीं, वस्तुतः सुवासा ही – अचानक वहाँ पधारे और भाई सुशील की थोड़ी सी खबर लेते हुए उन्होंने मुझे इस पुस्तक के पठन की निरर्थकता का उपदेश दिया । इसके बाद सन् १९२१ के आरम्भ में जब मैं अहमदाबाद पुरातत्त्वमंदिर में आया तब श्रीमद् की जयंती के अवसर पर कुछ कहने के लिए कहा गया तो एक दिन उपवास पूर्वक 'श्रीमद् राजचंद्र' पुस्तक आदर पूर्वक पढ़ लिया । लेकिन यह अवलोकन केवल एक ही दिन का था, अतः उसे ऊपरी अध्ययन ही कह सकते हैं । फिर भी इस पठन के परिणामस्वरूप मेरे मन पर जाने अनजाने में आज तक जो विपरीत

संस्कार-प्रभाव थे वे सब क्षणभर में विलय हो गये, तथा सर्व दर्शनों का जो एक व्यापक सिद्धांत है कि पाप या अज्ञानरूपी अंधकार चाहे कितना ही दीर्घकालीन हो, शुद्धि एवं ज्ञान की केवल एक ही किरण से क्षणमात्र में नष्ट हो जाता है, उसका अनुभव किया । इसके बाद सन् १९३२ तक की समयावधि में दो चार बार इसी प्रकार जयंती के अवसर पर बोलने का अवसर आया, परंतु उस पुस्तक को पढ़ने का या उसके विषय में अधिक चिंतन मनन करने का मुझे समय ही न मिला अथवा मैंने इसके लिये समय नहीं निकाला । इस बार भाई श्री गोपालदास का प्रस्तुत जयंती के अवसर पर कुछ लिखकर भेजने का स्निग्ध निमंत्रण प्राप्त हुआ । कुछ अन्य कारण भी थे ही । उनमें जिज्ञासा मुख्य थी जिससे प्रेरित हो कर इस बार मैंने कुछ आराम से किन्तु सविशेष आदर के साथ एवं तटस्थ भाव से प्रायः पूरा 'श्रीमद् राजचंद्र' का श्रवण किया और साथ ही संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखवाता गया । इस विषय में विस्तार से लिखना संभव है किंतु इसके लिए जितना समय चाहिए उतना नहीं है; फिर भी प्रस्तुत निबंध में मेरी बात इस तरह से रखने का प्रयत्न करूँगा कि मेरा मुख्य वक्तव्य भी स्पष्ट हो जाये और निबंध बहुत लंबा भी न हो जाये। निष्पक्षभाव से 'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथ के लेखों पर तटस्थतापूर्वक चिंतन कर के, उनके विषय में स्थिर हुए मेरे अभिप्राय - मेरी राय यहाँ कतिपय मुद्दों पर लिखना चाहता हूँ ।

आध्यात्मिकता :

श्रीमद् के अंतःकरण में आध्यात्मिकता बीजरूप में जन्मसिद्ध थी। आध्यात्मिकता अर्थात् मुख्यरूप से आत्मचिंतन तथा आत्मगामी प्रवृत्ति। उसमें स्वनिरीक्षण और उसके परिणाम स्वरूप दोषनिवारण एवं गुणों के विकसित करने की वृत्ति का ही समावेश होता है। आध्यात्मिक वृत्ति में अगर दोषदर्शन हो तो मुख्य रूप से तथा सर्व प्रथम स्वदोषदर्शन की तथा अन्य लोगों के प्रधानरूप से गुणदर्शन की वृत्ति ही होती है । श्रीमद् राजचंद्र ग्रंथ पूरा पढ़ लें तो हम पर सर्व प्रथम उनकी आध्यात्मिकता का ही प्रभाव पड़ता है । 'पुष्पमाला' से लेकर अंतिम संदेश तक का कोई भी लेख या ग्रंथ लेकर उसका अध्ययन करें तो एक ही बात स्पष्टतः दिखाई देगी कि श्रीमद् ने धर्मकथा तथा आत्मकथा के अतिरिक्त अन्य कोई बात लिखी ही नहीं है - अन्य किसी कथा का उल्लेख किया ही नहीं है । युवावस्था मे प्रवेश करने पर उन्होंने गृहस्थाश्रम का स्वीकार किया और अर्थोपार्जन का कार्य आरंभ किया

तब भी उनके जीवन में आध्यात्मिक वृत्ति का स्पष्ट दर्शन हमें होता है । काम और अर्थ के संस्कारों ने उन्हें अपनी ओर बलात् ही खींचा, अन्यथा उनकी सहज वृत्ति तो धर्म के प्रति ही थी और इस तथ्य का ज्ञान हमें उनके लेखों द्वारा स्पष्ट रूप में होता है । उनके अंतस् में यह धर्मबीज किस प्रकार विकसित होता है यह हम अब देखेंगे।

बाईस वर्ष की आयु में श्रीमद्जी ने जो संक्षिप्त सरल – निश्छल आत्मस्मृति का वर्णन किया है उसे देखने से तथा 'पुष्पमाला' एवं उसके बाद लिखी गई 'काळ न मूके कोई ने' (काल किसीको छोड़ता नहीं है) और 'धर्मविषे' – (धर्म के विषय में) इन दो कविताओं में प्रयुक्त कुछ सांप्रदायिक शब्दों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके आध्यात्मिक संस्कार परंपरागत वैष्णव भावना के आश्रय से पुष्ट हुआ था और बाल्यावस्था में ही इन संस्कारों का द्विगुण द्रुत गति से विकास हुआ उसके पीछे स्थानकवासी जैन परंपरा कारणभूत थी । उस परंपरा ने उनके मानस मे दया और अहिंसा की वृत्ति को दृढ़ करने में विशेष योगदान दिया है ऐसा लगता है । यद्यपि उन्हें बाल्यावस्था तथा कुमारावस्था में केवल स्थानकवासी जैन परंपरा का ही परिचय था, किन्तु जैसे जैसे उम्र के साथ साथ उनके भ्रमण का और परिचय का क्षेत्र विकसित होता गया, उन्हें प्रथम मूर्तिपूजक श्वेतांबर परंपरा का और बाद में दिगंबर परंपरा इन दो जैन परंपरा का भी परिचय प्राप्त हुआ और यह परिचय पुष्ट भी होता गया । वैष्णव संस्कार में उद्भूत तथा विकसित और आगे जाकर स्थानकवासी परंपरा के प्रभाव से अधिक दृढ़ताप्राप्त उनकी आध्यात्मिकता का दर्शन हम जैन परिभाषा में करते हैं । तत्त्व रूप में आध्यात्मिकता एक ही होती है, चाहे वह किसी भी जाति या पंथ में जन्मे हुए व्यक्ति के जीवन में प्रवर्तमान हो । उसे व्यक्त करने वाली वाणी केवल अलग अलग होती है । आध्यात्मिक मनुष्य चाहे मुसलमान हो, हिंदु हो या ईसाई हो, अगर वह सच्चा आध्यात्मिक हो तो उसकी भाषा और शैली भिन्न भिन्न होते हुए भी आध्यात्मिकता भिन्न नहीं होती । श्रीमद् की आध्यात्मिकता को मुख्य पुष्टि जैन परंपरा से प्राप्त हुई है अतः वह अनेक रूपों में जैन परिभाषा के द्वारा ही उनके पत्रों में व्यक्त हुई है । यह बात उनके व्यावहारिक धर्म को समझने के लिए ध्यान में रखनी होगी।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि अहमदाबाद और बम्बई जैसे प्रवृत्तिमय नगरों में निवास करने पर भी एवं उन दिनों वहाँ चारों ओर चल रही सुधारवादी प्रवृत्तियों से परिचित होते हुए भी, एक या दूसरे प्रकार से देशचर्चा के निकट होते हुए भी उनके

समान जागरुक व्यक्ति के मन में सुधारणाओं के तथा देश की प्रवृत्तियों के विषय में कुछ विचार उठे होंगे या नहीं ? और अगर कुछ विचार उठे हों तो उन्होंने उसके विषय में किस प्रकार का निर्णय स्थिर किया होगा ? अगर उन्होंने कुछ सोचा था या कोई निर्णय स्थिर किया था तो उनके लेखों में उन विषयों के बारे में कोई स्पष्ट निर्देश या उल्लेख क्यों नहीं दिखता है ? टंकारा में जिनका जन्म हुआ था उन ब्राह्मण मूळशंकर के मन में धर्मभावना के साथ साथ समाज के नवनिर्माण की तथा राष्ट्रकल्याण की भावना प्रस्फुटित होती है और उसी टंकारा के निकटस्थ ववाणिया में जन्में हुए तीक्ष्णप्रज्ञ वैश्य राजचंद्र के अंतर को मानों ये भावना स्पर्श ही नहीं करती है और केवल अंतर्मुखी आध्यात्मिकता ही उनके जीवन में व्याप्त रहती है, उसका कारण क्या हो सकता है ? सामाजिक या राष्ट्रीय अथवा अन्य किसी बाह्य वृत्ति के साथ सच्ची आध्यात्मिकता को किसी प्रकार का विरोध होता ही नहीं यह बात गांधीजी ने अपने जीवन के द्वारा सिद्ध कर दिखाई तो उन्हींके श्रद्धेय एवं धर्मस्नेही प्रतिभावान श्रीमद् राजचंद्र के मन में यह बात क्यों न उठी ? यह एक गंभीर प्रश्न है। इस प्रश्न का उत्तर कुछ अंशों में तो उन्हीं के 'मेरा पोत (हाड) गरीब था।' इन शब्दों में परिलक्षित होती प्रकृति में से तथा कुछ अंशों में उनके अध्ययन-चिंतन के ग्रंथों की सूचि तथा उनके अतिमर्यादित परिचय के क्षेत्र तथा भ्रमण क्षेत्र को देखने से भी मिल जाता है।

श्रीमद्जी के स्वभाव में आत्मलक्षी निवृत्ति का तत्त्व मुख्य रूप से दिखाई देता है। यही कारण है कि उन्होंने अन्य प्रश्नों को स्पर्श ही नहीं किया है। उन्होंने जिस साहित्य और जिन शास्त्रों का अध्ययन किया है और जिस दृष्टि से उनका चिंतन मनन किया है उसकी ओर ध्यान देने से हम समझ सकते हैं कि उनके मानस में अन्य प्रवृत्तियों को स्थान मिले यह संभव ही नहीं है। आरंभ से अंत तक उनका भ्रमण क्षेत्र एवं परिचय क्षेत्र उनके व्यापारियों से ही संबंधित तथा सीमित रहा है - व्यापारियों में भी मुख्यरूप से जैन व्यापारी ही हुआ करते थे। जो जैन समाज के साधु तथा गृहस्थ व्यापारियों से परिचित होंगे उन्हे यह बताना आवश्यक ही नहीं है कि मूलगामी जैन परंपरा में से प्रवृत्ति का - कर्मयोग का बल प्राप्त करना या सविशेष अर्जित करना असंभव-सा ही है। इसी कारण से श्रीमद् के निवृत्तिगामी स्वभाव को व्यापक प्रवृत्ति की ओर गतिशील कर सके ऐसा कोई प्रबल प्रवाह उनकी बाह्य परिस्थिति में से प्रस्फुटित हो सके ऐसी संभावना ही नहीं थी।

तत्त्वज्ञान

श्रीमद् का स्वयं का – मौलिक कहा जा सके ऐसा कोई तत्त्वज्ञान उनके साहित्य में नहीं है । भारतीय ऋषियों का चिंतन-मनन ही उनके साहित्य में संक्रमित होता है । उसमें भी उनके प्राथमिक जीवन में वैदिक या वैष्णव दर्शन के संस्कार थोड़े-बहुत अंशों में जो थे, वे समय के साथ पूर्णतः नष्ट हो गये तथा उसका स्थान जैन तत्त्वज्ञान ने ले लिया और वह उनके जीवन में इतना तद्रूप-समरस हो गया कि उनके वाणी और व्यवहार – सब कुछ जैन तत्त्वज्ञान के दर्पण सम बन गये । जीव, अजीव, मोक्ष, उसके उपाय, संसार उसका कारण, कर्म, कर्म के विविध स्वरूप, आध्यात्मिक विकासक्रम – गुणस्थान, नय अर्थात् चिंतन के दृष्टिबिंदु, अनेकांत (स्याद्वाद अर्थात् वस्तु को समग्र रूप से स्पर्श करनेवाली दृष्टि), जगत का संपूर्ण स्वरूप, ईश्वर, उसका एकत्व या अनेकत्व, उसका व्यापकत्व या देहपरिमितत्त्व इत्यादि तत्त्वज्ञान के प्रदेश में आनेवाले अनेक मुद्दों की उन्होंने अनेक बार चर्चा की है, या यह कहें कि इनका समस्त – संपूर्ण साहित्य केवल ऐसी चर्चाओं से व्याप्त है। उसमें आरंभ से अंत तक हम केवल जैन दृष्टि ही देखते हैं । उन्होंने इन सभी तत्त्वों-विषयों के संबंध में गहन एवं वेधक चर्चा की है परंतु वह केवल जैन दृष्टि पर अवलंबित तथा जैन दृष्टि की पुष्टि हो उस प्रकार से ही, कोई एक जैन धर्मगुरु करे उसी प्रकार से। अंतर केवल इतना ही है कि जैन धर्म की रूढ़ीगत सीमाओं में परिमित – बद्ध न रहकर वे समग्र जैन शास्त्र को स्पर्श करते हुए चलते हैं। जैन तत्त्वज्ञान के संस्कार उनकी अंतरात्मा में इतने दृढ़ हो चुके हैं कि ऐसा कोई भी प्रसंग उपस्थित होने पर तुलना करते हुए वैदिक आदि तत्त्वज्ञानों को अपनी समझ के अनुसार वे खुले मन से 'अपूर्ण' बताते हैं ।

उनके लेखों को पढ़ने से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने वेदानुगामी दर्शनों से संबंधित ग्रंथों का अध्ययन किया है । फिर भी आज तक मेरे मन पर यही (छाप) असर रहा है कि वैदिक या बौद्ध दर्शन के मूल ग्रंथों का अध्ययन करने का अवसर उनको मिला नहीं है । तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो मौलिक एवं उत्तरावर्ती जैन साहित्य का जितना अध्ययन-मनन उन्होंने किया है उससे बहुत कम अध्ययन-मनन उन्होंने कुल मिलाके अन्य सभी दर्शनों का किया है। स्वतंत्र ऐतिहासिक दृष्टि से नहीं, बल्कि मुख्यतः जैन परंपरा में चली आ रही मान्यता के अनुसार जैन दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन के संबंध में उन्होने चिंतन किया है । इस कारण से ही एक

जगह पर जैनेतर दर्शनों को वे हिंसा और राग-द्वेष के पोषक कहते हैं । यदि उन्हें अन्य दर्शनों के मूल साहित्य का गंभीरता पूर्वक अध्ययन-मनन करने का शांत अवसर मिला होता तो वे पूर्व मीमांसा के अतिरिक्त के जैनेतर दर्शनों के विषय में ऐसा कोई भी विधान करने से अवश्य हिचकिचाते । उनकी निष्पक्ष तथा तीव्र प्रज्ञा सांख्य-योगदर्शन में, शांकर वेदान्त में, बौद्ध विचारधारा में जैन परंपरा के समान ही रागद्वेष विरोधी तथा हिंसाविरोधी भाव का स्पष्ट दर्शन कर सकी होती । अधिक तो क्या, परंतु उनकी सरल प्रकृति तथा विशद बुद्धि न्याय-वैशेषिक सूत्र के भाष्यों में भी वीतरागभाव की - निवर्तक धर्म की ही पुष्टि का क्रम शब्दशः देख सकी होती । और अगर ऐसा हुआ होता तो उनकी मध्यस्थता ने, अन्य दर्शनों के विषय में जैन परंपरा के प्रचलित विधानों के संबंध में हो रही ऐसी भूल को रोका होता ।

एक ओर जैन तत्त्वज्ञान के कर्म, गुणस्थान तथा नव तत्त्व आदि विषयों का मौलिक अभ्यास करने का अवसर, उसका ही चिंतन, प्रतिपादन करने का अवसर उन्हें प्राप्त हुआ तथा दूसरी ओर उन जैनेतर दर्शनों के मूल ग्रंथ सांगोपांग देखने का अथवा आवश्यक स्वतंत्रता के साथ - मुक्त रूप से उनके विषय में चिंतन-मनन करने का अवसर उन्हें प्राप्त नहीं हुआ । अन्यथा उनकी गुणग्राही दृष्टि तथा समन्वय क्षमता ने उन सभी दर्शनों के तुलनात्मक चिंतन में से एक नये ही प्रस्थान का आरंभ उनके हाथों करवाया होता और अगर ऐसा न हुआ होता तो भी वेदांत के मायावाद या सांख्य योग के असंग तथा प्रकृतिवाद में जो कमी उन्हें दिखाई दी है वह उस रूप में तो अवश्य न दिखाई देती और उनके द्वारा दर्शाई भी न जाती ।

(सम्पादक की समीक्षात्मक टिप्पणी: महाप्राज्ञ पूज्य पंडितजी की गहन तलस्पर्शी, मौलिक, न्यायपूर्ण प्रज्ञा के प्रति अत्यंत आदर होते हुए भी यहाँ एक विनयपूर्ण, विनम्र स्पष्टता और किंचित् मतवैभिन्न्यपूर्ण असहमति कि -

श्रीमद् राजचंद्रजी के 'वचनामृत' अनुसार और उनकी अप्रतिम, स्पष्ट, निष्पक्ष, स्याद्वादी, सर्वग्राही प्रतिपादन शैली एवं उनकी आत्मसाक्षात्कार की सतत, अस्खलित अखंड प्रतीति-स्थिति धारा अनुसार उनका 'उपयोग' सर्व दर्शनों के सर्व शास्त्रों-ग्रंथों पर निमिषमात्र में घूम फिर जाता था । उनकी स्फटिकवत् आत्मानुभूति के सामने शास्त्रों की क्या मति? कबीर के शब्दों में, 'तू कहता कागज़

की लेखी, मैं कहता आँखन की देखी': असामान्य आत्मदृष्टाओं की ऐसी अनुभूति-महत्ता या कागज़-शास्त्रों की?

श्रीमद्जी को विश्व के समस्त ग्रंथों-दर्शनों का ज्ञान जब हस्तामलकवत् हो चुका था, 'बीज केवलज्ञान' और प्रायः अधिकांश सर्वज्ञता की ओर वे अपनी पूर्ण आत्मज्ञता के कारण पहुंच गए थे – ऐसी अंतर्दशा की अवस्था में उन्हें किसी अन्य दर्शनों के पूर्वाध्ययन, विशेष अध्ययन की आवश्यकता शेष रह गई थी क्या? सर्वज्ञ तीर्थंकरों को ऐसी आवश्यकता होती है क्या? तीर्थंकर भगवान महावीर कल्पसूत्र के 'गणधरवाद' द्वारा अपनी ज्ञानानुभूति की स्पष्ट स्थापना करते हुए भी वेदों का खंडन थोड़े ही करते हैं? फिर स्वयं पू.पंडितजी के ही इसके बाद के अपने 'आत्मसिद्धि – श्रीमद् की आत्मोपनिषद्' लेख में 'आत्मसिद्धि' की सर्वकालजयी रचना को अन्य सारे ही दर्शनों के ऐसे ग्रंथों से श्रेष्ठतम सिद्ध नहीं कर रहे? वैसे पू. पंडितजी का श्रीमद्जी के प्रति सर्वत्र अहोभाव ही अहोभाव दिखता है।)

शास्त्रज्ञान तथा साहित्यावलोकन

श्रीमद्जी का स्वभाव ही चिन्तनशील एवं मननशील था। उनका वह चिंतन भी आत्मलक्षी ही था। अतः कहानी, उपन्यास, नाटक, काव्य, प्रवासवर्णन जैसे बाह्यलक्षी साहित्य के प्रति स्वाभाविक रूप से ही उनको रुचि रही नहीं है ऐसा लगता है। ऐसा साहित्य पढ़ने के प्रति उन्होंने ध्यान दिया हो या उसके लिए समय व्यतीत किया हो ऐसा उनके लेखों को देखने से लगता नहीं है। फिर भी कभी ऐसा कुछ साहित्य उनके हाथ लग भी गया हो तो उसका उपयोग भी उन्होंने अपनी तत्त्वचिंतक दृष्टि से ही किया होगा। उनमें असीम जिज्ञासा तथा नई नई बातें जानकर उनके विषय में चिंतन करने की सहज वृत्ति भी खूब थी। उनकी यह वृत्ति साहित्य की अन्य विधाओं की ओर न झुकी; वह केवल शास्त्रों के प्रति ही झुकी रही ऐसा प्रतीत होता है।

विदुरनीति, वैराग्यशतक, भागवत, प्रवीणसागर. पंचीकरण, दासबोध, शिक्षापत्री, प्रबोधशतक, मोहमुद्गर, मणिरत्नमाला, विचारसागर, योगवासिष्ठ, बुद्धचरित आदि जिनका उल्लेख उन्होंने अपने लेखों मे किया है तथा जिन ग्रंथों के नामों का उल्लेख उन्होंने नहीं किया है फिर भी उनके लेखों मे निहित भाव से स्पष्ट

रूप से सूचित हो रहे जैनेतर शास्त्रीय ग्रंथों का उन्होने एकाग्रता पूर्वक तथा तीक्ष्ण दृष्टि से अध्ययन अवश्य किया है, परंतु अधिकतर तो उन्होंने जैन शास्त्रों का ही अध्ययन किया है। उन ग्रंथों में चर्चित तात्त्विक तथा आचार से संबंधित सूक्ष्म विषयों पर उन्होंने अनेक बार गंभीर विचारणा की है और उनके बारे में कई बार लिखा है। उतना ही नहीं, बार बार इसी विषय पर उपदेश भी दिया है। इस दृष्टि से उनके साहित्य को पढ़ने से ऐसा विधान फलित होता है कि यद्यपि कई लोगों मे होती हैं ऐसी संकुचित खंडनमंडनवृत्ति, कदाग्रह या विजय लालसा उनके मन में नहीं थे, फिर भी उनके द्वारा पढ़ा गया समग्र जैनेतर श्रुत, जैन श्रुत तथा जैन भावना के परिपोषण में ही उनको परिणत हुआ था।

भारतीय दर्शनों मे वेदांत (उत्तरमीमांसा) और वह भी शांकरमतानुसारी तथा सांख्यदर्शन इन दर्शनों के मूल तत्त्व का परिचय उन्हें कुछ अधिक था ऐसा लगता है। इसके अतिरिक्त अन्य वैदिक दर्शन या बौद्ध दर्शन के विषय में उन्हें जो कुछ जानकारी प्राप्त हुई, यह उन दर्शनों के मूल ग्रन्थ से नहीं, बल्कि आचार्य हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय, धर्मसंग्रहणी आदि तथा आचार्य सिद्धसेन के मूल सम्मति तर्क जैसे जैन ग्रंथों के द्वारा ही प्राप्त हुई हो ऐसा लगता है।

श्रीमद्जी के जैन शास्त्रज्ञान का आरंभ भी स्थानकवासी परंपरा में से ही होता है। उस परंपरा का साहित्य शेष दो परंपराओं की तुलना में – और विशेषरूप से मूर्तिपूजक श्वेतांबर परंपरा की तुलना में अति अल्प और मर्यादित है। 'थोकड़ा' नामक तात्त्विक विषयों के गुजराती भाषा में बद्ध प्रकरण – कुछ मूल प्राकृत आगम तथा उसके 'टबा' – यही इस परंपरा का मुख्य साहित्य है। बहुत ही कम समय में श्रीमद् ने इन शास्त्रों में से सब नहीं तो – उनमें से मुख्य मुख्य शास्त्रों का अध्ययन कर के उसका हार्द प्राप्त कर लिया, परंतु इतने से उनकी चक्रवर्ती बनने जितनी महत्त्वाकांक्षा का कुछ शमन हो या आंतरिक क्षुधा का परितोष हो ऐसा नहीं था। वे जैसे जैसे जन्म भूमि से निकल कर बाहर जाने लगे और गगनचुम्बी जैन मंदिरों के दर्शन के साथ साथ विशाल ग्रंथभंडारों के विषय में उन्हें जानकारी प्राप्त होती गई, वैसे वैसे उनकी वृत्ति शास्त्रशोधन की ओर मुड़ने लगी। जब वे अहमदाबाद पहुँचे तब उन्हें अनेक नये नये शास्त्र देखने-समझने का अवसर प्राप्त हुआ। फिर तो, ऐसा लगता है कि उनकी विवेचक शक्ति तथा गंभीर धार्मिक प्रकृति के कारण चारों ओर से आकर्षण में वृद्धि होती गई और अनेक दिशाओं में से उन्हें संस्कृत – प्राकृत ग्रंथों

की प्राप्ति होती गई। इस प्रकार श्वेतांबर साहित्य का परिचय बहिरंग एवं अंतरंग दोनों प्रकार से बढ़ता ही जा रहा था, कि ऐसे में मुंबई जैसे स्थानों से उन्हें दिगंबर शाखा के शास्त्र उपलब्ध हुए। वे जिस समय जो पढ़ते उस समय उसके विषय में अपनी दैनंदिनी मे लिख लेते और ऐसा अगर न हो सका तो कम से कम किसी जिज्ञासु या स्नेही व्यक्ति को लिखे जानेवाले पत्र में उसका निर्देश करते । उनकी दैनन्दनी सब की सब प्राप्त हैं या ऐसे सभी पत्र प्राप्त हुए हैं और प्राप्त दैनन्दनी भी समग्र ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता, फिर भी जो कुछ साधन उपलब्ध हैं उनका आधार लेकर इतना तो निश्चित् रूप से कहा जा सकता है कि उन्होंने तीनों जैन परंपराओं के तात्त्विक प्रधान ग्रंथों का अध्ययन - संस्पर्श अत्यंत वेधक सूक्ष्म दृष्टि से किया है। उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग, दशवैकालिक, प्रश्नव्याकरण इत्यादि ग्रंथों को तो वे शब्द, भाव और तात्पर्य में आत्मसात् कर गये थे ऐसा प्रतीत होता है ।

कुछ तर्कप्रधान ग्रंथों का भी अध्ययन उन्होंने किया है। वैराग्यप्रधान तथा कर्मविषयक साहित्य तो उनकी नसनस में व्याप्त था ऐसा लगता है।

गुजराती, हिन्दी, संस्कृत और प्राकृत इन चार भाषाओं में लिखित शास्त्र श्रीमद् ने पढ़े हैं ऐसा लगता है। आश्चर्य तो इस बात का है कि गुजराती के अतिरिक्त संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं का अन्य विद्वानों की तरह उन्होंने व्यवस्थित अभ्यास किया नहीं है, फिर उन भाषाओं के विशारद पंडित शास्त्रों के भावों का जितनी यथार्थता के साथ स्पर्श करें उतनी ही यथार्थता के साथ और कई बार तो उनसे भी अधिक विशदता के साथ उन्होंने शास्त्रों के भावों को गद्य में अथवा पद्य में व्यक्त भी किया है, कई बार उन भावों का मार्मिक विवेचन भी किया है। यह सब उनकी अर्थस्पर्शी प्रज्ञा के सूचक-परिचायक हैं।

उस समय जैन परंपरा में ग्रंथों के मुद्रण का चलन नहींवत् था । दिगंबर शास्त्रों ने तो मुद्रणालय का द्वार भी देखा नहीं था । ऐसे युग में ध्यान, चिंतन, व्यापार आदि अन्य सभी प्रवृत्तियों के बीच इन तीनों संप्रदायों के शास्त्रों का भाषा आदि की अपर्याप्त सुविधाओं के बावजूद उनका यथार्थ अध्ययन करना तथा उन पर आकर्षक रूप में लिखना यह श्रीमद्जी की असाधारण विशेषता है। उनके कोई गुरु न थे - अगर होते तो उनके कृतज्ञ हाथ उनका उल्लेख करना न भूलते - लेकिन

उनकी जिज्ञासा इतनी प्रबल थी कि छोटे बड़े सब के पास से आवश्यक तत्त्व वे अवश्य प्राप्त कर लेते थे।

उस युग में गुजरात में, विशेष रूप से मूर्तिपूजक और स्थानकवासी जैन परंपरा के लोगों को दिगंबर साहित्य का परिचय करानेवाले, उस साहित्य के प्रति रुचि एवं आदरभाव जगाने वाले प्रथम व्यक्ति यदि कोई हो तो वे श्रीमद्जी ही थे। यद्यपि मुंबई जैसे नगर में, जहाँ उन्हें दिगंबर मित्रों के संपर्क की संभावना अधिक थी वहाँ उन्होंने दिगंबर परंपरा के अनुयायियों को श्वेतांबर साहित्य का परिचय प्राप्त हो और उस दिशा में उनकी रसवृत्ति जाग्रत हो ऐसा प्रयत्न उन्होंने अवश्य किया होगा परंतु **श्वेतांबर परंपरा ने दिगंबर परंपरा के साहित्य को उस समय से लेकर आज पर्यंत जितना अपनाया है उसकी तुलना में दिगंबर परंपरा ने उसका शतांश भी श्वेतांबर साहित्य को अपनाया नहीं है। फिर भी एक दूसरों के शास्त्रों के सादर अध्ययन-मनन के द्वारा तीनों शाखाओं के बीच एकता का भाव जगाने का तथा अन्य शाखा की समृद्धि के द्वारा अपनी अपूर्णता को दूर करने की प्रक्रिया के आरंभ का श्रेय तो श्रीमद्जी को ही है** जिसने आगे जा कर परमश्रुत प्रभावक मंडल के रूप में कुछ अंशों में मूर्त रूप धारण किया है।

प्राज्ञ पुरुष हर परिस्थिति से लाभ प्राप्त कर ही लेता है उस न्याय से श्रीमद् को प्रथम स्थानकवासी परंपरा प्राप्त हुई वह उनके लिए एक विशेष लाभ में ही परिणत हुई; और वह यह कि स्थानकवासी परंपरा में प्रचलित मूल आगमों का अभ्यास उनके लिए अत्यंत सुलभ हुआ जो कि श्वेतांबर परंपरा मे गृहस्थ के लिए पहले से होना उतना संभव नहीं होता - और उसका प्रभाव उनके जीवन में अमीट बन गया। आगे जा कर श्वेतांबर परंपरा के प्रचलित संस्कृतप्रधान तथा तर्कप्रधान ग्रंथों के अवलोकन ने उनकी आगमरुचि एवं आगम प्रज्ञा को अधिक प्राञ्जल बनाया। दिगंबर साहित्य के परिचय ने उनकी सहज वैराग्य वृत्ति तथा एकांतवास की वृत्ति को विशेष रूप से उत्तेजित किया। जैसे जैसे उनके शास्त्रज्ञान से संबंधित परिचय एवं विकास में वृद्धि होती गई वैसे वैसे उनमें पहले से योग्य परिचय एवं जानकारी के अभाव के कारण जो एकांतिक संस्कार दृढ़ हो गये थे - उदाहरणार्थ - 'पुष्पपांखड़ी ज्यां दुभाय, जिनवरनी, त्यां नहीं आज्ञाय' - वे दूर हो गये। और

उसका स्थान 'आध्यात्मिक विकास क्रम में कहीं मूर्तिपूजा का आलंबन भी उपयोगी है' ऐसी अनेकांत दृष्टि ने लिया ।

'षड्दर्शन जिन अंग भणीजे' - आनंदघनजी की इस प्रसिद्ध एवं समन्वयकारी पंक्ति की भावना जैन परंपरा में तर्क युग से विशेष प्रतिष्ठित हुई है । उस भावना के विश्लेषण तथा परीक्षण हेतु केवल जैन शास्त्रों का ही नहीं, बल्कि उन सभी दर्शनों के मूल ग्रंथों का भी योग्य रूप में तथा मध्यस्थ दृष्टि से किया गया अभ्यास अपेक्षित है । **श्रीमद् में इस भावना की विरासत थी, जो उन्होंने स्पष्ट रूप से व्यक्त की है ।** इसके साथ साथ - केवल जैन धर्म के तीन संप्रदायों के विषय में एक अन्य भावना भी दृष्टिगोचर होती है, और वह यह है कि **श्वेतांबर परंपरा में शेष दोनों परंपराएँ पूर्ण रूप से समाविष्ट हो जाती हैं, जब कि स्थानकवासी या दिगंबर दोनों में से एक भी परंपरा में श्वेतांबर परंपरा पूर्णरूप से समाविष्ट नहीं होती है । यह विचार - यह भावना सभी परंपराओं के निष्पक्ष शास्त्रज्ञान - शास्त्राभ्यास के परिणामस्वरूप श्रीमद्जी के अंतर में स्पष्ट हुई है** ऐसा उनके लेखों पर से स्पष्ट होता है क्यों कि अपने स्नेही जनों को दिगंबर शास्त्रों का अध्ययन करने की सलाह देते हुए **उन्होंने कहा है कि दिगंबर परंपरा में नग्नत्वका एकांतिक सिद्धांत है उसकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिए । उसी प्रकार वे स्थानकवासी परंपरा की कभी कभी आगमों का मनमाना अर्थ निकालने की प्रणाली का भी विरोध प्रदर्शित करते हैं । लेकिन श्वेतांबर शास्त्रीय परंपरा के आचार या विचार के प्रति एक भी स्थान में उन्होंने विरोध जताया हो या जैन दृष्टि से किसी न्यूनता के प्रति अंगुली निर्देश किया हो ऐसा आज तक उनके लेखों को पढ़ने पर मेरे ध्यान में नहीं आया है । मेरा अपना अभ्यास उसी राय पर स्थिर हुआ है कि श्वेतांबर शास्त्रों की आचार विचार परंपरा इतनी अधिक व्यापक तथा अधिकार भेद से अनेकांगी है कि उसमें अन्य दोनों परंपराएँ पूर्णरूप से उनके स्थान में नियोजित, समायोजित हो जाती हैं।**

कवित्व

श्रीमद् केवल गद्य के ही लेखक नहीं थे, उन्होंने कविताओं की भी रचना की है। उन दिनों कई लोग उन्हें 'जैन कवि' के नाम से ही जानते थे तथा कई लोग उनके अनुगामी गण को 'कवि संप्रदाय' के रूप में ही पहचानते थे ।

यद्यपि वे कोई महान कवि न थे या उन्होंने किसी महान काव्य की रचना भी नहीं की है, फिर भी उनकी कविताओं को देखने से ऐसा लगता है कि कवित्व का बीज-वस्तुस्पर्श और प्रतिभा एवं अभिव्यक्तिसामर्थ्य - उनमें था । उनकी कविता अन्य गद्य रचनाओं की भाँति आध्यात्मिक विषयस्पर्शी ही है । उनके प्रिय छंद दलपत, शामळ भट्ट आदि के अभ्यस्त छंदों में से ही हैं । उनकी काव्य भाषा प्रवाहबद्ध है । सहज भाव से सरलता पूर्वक प्रतिपाद्यविषय को अपनी गोद में लेकर वह प्रवाह कहीं जोश के साथ, तो कहीं चिंतनसुलभ गंभीर गति में बहता जाता है । सोलह साल की आयु से भी पूर्व रचित कविताएँ स्वाभाविक रूप से ही शब्दप्रधान तथा शाब्दिक अलंकारों के कारण पाठक को आकर्षित करने वालीं हैं । बाद की कविताएँ वस्तु एवं भाव दोनों दृष्टि से उत्तरोत्तर गंभीर बनने के कारण, उनमें शाब्दिक अनुप्रास स्वाभाविक रूप से गौण बन जाते हैं।

श्रीमद् के प्राथमिक जीवन की कविताओं के विषय भारतप्रकृतिसुलभ वैराग्य, दया, ब्रह्मचर्य इत्यादि हैं । बाद की प्रायः सभी कवताएँ जैन संप्रदाय की भावनाओं को तथा तात्त्विक तथ्यों को दृष्टि में रखकर की गईं हैं । जिस प्रकार आनंदघन, देवचंद्रजी तथा यशोविजयजी के कुछ पद भाव की सूक्ष्मता तथा कल्पना की उच्चगामिता के कारण तत्कालीन गुजराती साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त कर सके ऐसे हैं, फिर भी ये सभी पद्य जैन संप्रदाय की ही वस्तु को स्पर्श करते हुए, साधारण गुजराती साक्षरों से अधिकतर अपरिचित सम ही रहे हैं, उसी प्रकार श्रीमद्जी की रचनाओं के विषय में भी कुछ ऐसी ही स्थिति है । पूज्य गाँधीजी ने 'अपूर्व अवसर' को आश्रम भजनावली में स्थान दिया न होता तो मुझे नहीं लगता कि कभी भी साधारण जनता को उसका परिचय प्राप्त हुआ होता ।

श्रीमद्जी का 'आत्मसिद्धिशास्त्र' भी दोहों में निबद्ध है । उसका विषय पूर्णतः दार्शनिक, तर्कप्रधान एवं जैन संप्रदाय सिद्ध होने के कारण लोकप्रियता की कसौटी

पर उसका मूल्यांकन संभव ही नहीं है। विशिष्ट गुजराती साक्षर भी अगर उनके पद्यों का रसास्वाद करना चाहें, तो जिस प्रकार अन्य काव्यों के रसास्वाद हेतु कुछ विशिष्ट संस्कारों की तैयारी की आवश्यकता है, उसी प्रकार जैन परिभाषा एवं जैन तत्त्वज्ञान के स्पष्ट संस्कार प्राप्त करना आवश्यक है। संस्कृत भाषा के विशिष्ट विद्वान भी वेदांत के मर्मस्थान का स्पर्श किये बिना श्रीहर्ष की पद्यरचनाओं के चमत्कारों का आस्वाद नहीं कर सकते। सांख्य प्रक्रिया के परिचय के बिना कालिदास की कुछ पद्यरचनाओं की अपूर्वता का अनुभव करना असंभव है। वही बात श्रीमद्जी की पद्यरचनाओं के विषय में भी कहनी पड़ेगी।

जिस प्रकार जैन समाज के अधिकांश लोग सांप्रदायिक ज्ञान तथा परंपरागत संस्कारों के कारण आनंदघनजी आदि की पद्य रचनाओं के हार्द का जल्दी स्पर्श कर लेते हैं, उसी प्रकार श्रीमद् की पद्य रचनाओं के हार्द का, विषयवस्तु का भी स्पर्श तुरंत कर लेते हैं। काव्य के रसास्वाद हेतु आवश्यक अन्य साहित्य से संबंधित संस्कारों की जैन जनता में कुछ अंशों में कमी होने के कारण काव्य के बाह्य स्वरूप का वास्तविक मूल्यांकन करने में असमर्थ हैं ऐसा देखा गया है। इसी कारण से या तो वे जो गुण नहीं हैं उनका आरोपण अपनी इष्ट कविताओं मे भक्तिवश कर देते हैं या जो गुण हैं उनकी भी परख नहीं कर सकते हैं। श्रीमद् की पद्य रचनाओं के विषय में भी जैन जनता में कुछ ऐसा ही देखा गया है।

प्रज्ञा

श्रीमद् में प्रज्ञा गुण था इस बात का प्रतिपादन करने से पहले मुझे यह स्पष्ट करना चाहिए कि प्रज्ञा गुण याने कौनसी शक्तियों के विषय में मैं कहना चाहता हूँ। स्मृति, बुद्धि, मर्मज्ञता, कल्पनासामर्थ्य, तर्कपटुता, सत् असत् विवेक – विचारणा और तुलना सामर्थ्य — प्रज्ञा शब्द से मुख्य रूप से ये शक्तियाँ विवक्षित हैं। इनमें से अगर प्रत्येक शक्ति का विस्तृत एवं अति स्पष्ट रूप में परिचय कराना चाहूँ तो उनके इन शक्तियों के परिचायक लेखों के अक्षरशः उद्धरण विस्तृत रूप में समजूती के साथ यहाँ प्रस्तुत करने होंगे और अगर ऐसा करूँ तो एक पुस्तक ही हो जायगा। इससे विपरीत, अगर श्रीमद् के लेखों के अंश दर्शाये बिना ये शक्तियाँ श्रीमद् में थीं ऐसा कहूँ तो केवल श्रद्धा के बल पर मेरा कथन श्रोताओं के पास मनवाने जैसा

होगा। अतः मध्यम मार्ग का स्वीकार करते हुए इस विषय की चर्चा करना मैं उचित समझता हूँ।

श्रीमद्जी की असाधारण स्मरणशक्ति अर्थात् स्मृति का प्रमाण है उनकी विलक्षण अवधानशक्ति। उसमें भी उनकी कुछ विशेषताएँ हैं। एक तो यह कि कुछ अन्य अवधानकर्ताओं की तरह उनके अवधानों की संख्या, संख्या में वृद्धि करने के हेतु से हुई नहीं थी। दूसरी और अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि उनकी अवधानशक्ति बुद्धिव्यभिचार से तनिक भी वंध्य नहीं बनी थी, बल्कि उसमें से विशिष्ट सर्जनशक्ति प्रकट हुई थी जो अन्य अवधानकर्ताओं में शायद ही देखी जाती है। उसमें उनकी विशेषता यह है कि जिसके द्वारा हज़ारों-लाखों लोगों को क्षण भर में प्रभावित कर के अपने अनुगामी बनाया जा सकता है, असाधारण प्रतिष्ठा एवं अर्थलाभ की प्राप्ति की जा सकती है ऐसी अद्भुत अवधानशक्ति होते हुए भी, योगविभूतियों की भाँति उन्हें त्याज्य मान कर उसका उपयोग अन्तर्मुख कार्य के लिए किया, जो कि किसी अन्य साधारण मनुष्य के लिए असंभव है।

किसी भी वस्तु के वास्तविक हार्द को समझ लेना – तत्क्षण समझ लेना – मर्मज्ञता कहलाता है। सोलह वर्ष से भी कम आयु में रचित 'पुष्पमाला' में प्रसंगोपात्त राजा का अर्थ बताते हुए वे कहते हैं – राजा भी प्रजा के प्रिय सेवक हैं ('राजा प्रकृतिरञ्जनात्' – कालिदास। पुष्पमाला-७०)। यहाँ 'प्रजा' और 'सेवक' दोनों शब्द मर्मसूचक हैं। शिक्षित समाज में कुछ ऐसा ही खयाल व्याप्त होता जा रहा है। सत्रहवें वर्ष में लिखी गई 'मोक्षमाला' में मानव की जो परिभाषा सूचित करते हैं वह कितनी मर्मग्राही – मार्मिक है। 'मनुष्यत्व को जो समझे वही मानव कहलाता है' (मोक्षमाळा-४)। यहाँ 'समझे' और 'वही' ये दोनों शब्द मर्मग्राही हैं, अर्थात् मनुष्य की आकृति मनुष्य का रूप प्राप्त कर लेने से कोई मनुष्य नहीं बन जाता। उसी 'मोक्षमाला' में मनोजय का मार्ग दिखाते हुए वे कहते हैं – मन जो दुरिच्छा करे उसे भुला देना चाहिए (मोक्षमाला-६८) अर्थात् विषय रूपी आहार से उसको पुष्ट नहीं करना चाहिए। यहाँ 'दुरिच्छा' तथा 'उसे भुला देना चाहिए' ये दोनों शब्द मार्मिक हैं। उसी किशोरवय में लिखी गई 'मोक्षमाला' कृति में (मोक्षमाला-९) संगठन बल से लक्ष्मी, कीर्ति एवं अधिकार प्राप्त करने वाली 'आंग्लभौमियो' का उदाहरण लेकर अज्ञान के संकट में फँसे हुए जैन तत्त्व को प्रकाशित करने हेतु वे महान् समाज की स्थापना का स्वप्न देखते हैं।

तेईस वर्ष की आयु में, व्यापार में मग्न, जिन्होंने संस्कृत भाषा या तर्कशास्त्र का कोई विशेष अध्ययन भी नहीं किया था ऐसे श्री राजचन्दभाई जैन शास्त्र के कैसे कैसे गहन मर्म का उद्घाटन करते थे उसका उदाहरण देखने की इच्छावाले जैनों को श्रीमद्जी ने 'श्रीमद् राजचंद्र' अंक ११८ और ९२५ में पच्चक्खाण (इस ग्रंथ का पृष्ठ ६० – दर्शन और चिंतन) दुष्पच्चक्खाण आदि शब्दों के जो अर्थ समझाये हैं, रुचक प्रदेश की निरावरण स्थिति की जो स्पष्टता की है, तथा निगोदगामी चतुर्दश पूर्वी की चर्चा का जो स्पष्टीकरण किया है, उसे एकाग्रतापूर्वक पढ़ लेना चाहिए।

२९ वें वर्ष में भारतवर्षीय संस्कृति को परिचित ऐसा एक जटिल प्रश्न प्रश्नकर्ता की तर्क जाल के कारण अधिक जटिल बन कर उनके संमुख उपस्थित होता है। प्रश्न का सार यह है कि जीवन आश्रम क्रमानुसार व्यतीत किया जाना चाहिए या किसी भी वय में त्यागी बन सकते हैं ? इस प्रश्न के पीछे मोहक तर्कजाल यह है कि मनुष्य देह तो मोक्षमार्ग का साधन होने के कारण उत्तम है ऐसा जैन धर्म स्वीकार करता है; तो फिर ऐसे उत्तम मनुष्य देह का सर्जन रुक जाय ऐसे त्याग मार्ग का, विशेष रूप में संतानोत्पत्ति के पूर्व ही त्यागमार्ग का स्वीकार करने का, उपदेश जैन धर्म देता है तो यह वदतोव्याघात नहीं है ? श्रीमद् नै जैन शैली के मर्म को पूर्ण रूप में स्पर्श करते हुए इस प्रश्न का उत्तर दिया है; – वस्तुतः जैन, बौद्ध और सन्यासमार्गी वेदांत – तीनों को यह शैली समान रूप से मान्य है। श्रीमद् का यह उत्तर बुद्धिमान समझदार व्यक्ति को उनके स्वयं के शब्दों में पढ़ना चाहिए (इस ग्रन्थ का पृष्ठ १२६)।

२७ वें वर्ष में दक्षिण आफ्रिका से गाँधीजी ने पत्र लिख कर २७ प्रश्न ही पूछे थे। उन प्रश्नों मे से एक प्रश्न गाँधीजी के शब्दों में इस प्रकार है 'मुझे सर्प डसने के लिए आये तो उसको डसने देना चाहिए या उसे मार देना चाहिए ? यहाँ हम यह मान लें कि अन्य किसी प्रकार से उसे दूर करने की शक्ति मुझमें नहीं है ऐसे संयोगों में'' (४४१)। इस प्रश्न का उत्तर श्रीमद् ने मोहनलालभाई (उन दिनों गाँधीजी इसी नाम से जाने जाते थे) को इस प्रकार दिया था – ''सर्प आपको डसने आये तो डसने दें ऐसा कहना भी शोचनीय है, फिर भी 'देह अनित्य है' ऐसी अगर आप को प्रतीति हो गई है तो फिर इस असारभूत देह की रक्षा हेतु, जिसके मन में देह के लिए प्रीति है ऐसे सर्प को मारना आपके लिए उचित कैसे माना जा सकता है ? जिसने आत्महित की कामना रखी है उसके लिए तो देह का मोह छोड़कर देह का बलिदान देना ही

उचित है । जिसने आत्महित की कामना ही नहीं की है उसे क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न का तो यही उत्तर दिया जा सकता है कि उसे नरकादि में परिभ्रमण करना चाहिए, अर्थात् सर्प को मारना चाहिए ऐसा उपदेश तो हम कैसे दे सकते हैं ? अनार्य वृत्ति हो तो मारने का उपदेश दिया जा सकता है और वह तो हमें या आपको स्वप्न में भी न हो यही इच्छनीय है ।'' (४४१) श्रीमद्जी का यह उत्तर अहिंसा धर्म के उनके मर्मज्ञान का एवं स्वजीवन में व्याप्त अहिंसा का जीवंत उदाहरण है। इस एक उत्तर से उन्होंने एक ही तीर से अनेक लक्ष्य साधे हैं, तथा अधिकार भेद के अनुसार अहिंसा तथा हिंसा की शक्यता-अशक्यता के संबंध में स्पष्ट कथन प्रस्तुत किया है। उसमें 'विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि ते एव धीराः।' - कालिदास की यह अर्थपूर्ण उक्ति अहिंसा के सिद्धांत के विषय में भाष्य का स्वरूप धारण करती है - यहाँ इतना समझना चाहिए कि श्रीमद् का अहिंसा विषयक अर्थघटन मुख्यतः वैयक्तिक दृष्टि से है । समाज या राष्ट्र की दृष्टि को केन्द्र में रखते हुए उसका विचार जो गाँधीजी ने बाद में विकसित किया उसका मूल श्रीमद् के उपरोक्त कथन में बीज के रूप में होते हुए भी, वस्तुतः उसमें वैयक्तिक दृष्टि ही परिलक्षित होती है ।

कल्पनाशक्ति तथा आकर्षक दृष्टांत या कथा के द्वारा अपने वक्तव्य को स्थापित करने की एवं स्पष्ट करने की क्षमता श्रीमद् को छोटी आयु से प्राप्त थी । किशोरवय में लिखित 'पुष्पमाळा' में पुराना कर्ज़ा - करज चुकाने एवं नया कर्ज़ा - करज न लेने की सीख देने हेतु करज शब्द का भंगश्लेष करते हुए गुजराती तथा संस्कृत में व्युत्पत्ति करते हुए उसमें से जो तीन अर्थ प्रस्तुत किये हैं, यह उनके किसी तत्कालीन पठन का फल हो तो भी उसमें कल्पनाशक्ति के बीज स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं :-

१. क = नीच + रज = धूल (जैसे कि कपूत)

२. कर = हाथ - यम का हाथ + ज = निष्पन्न वस्तु

३. कर = कर (tax), राक्षसी कर + ज = उत्पन्न करनेवाला - उगाहनेवाला (पुष्पमाळा-७५)

१७ वर्ष की आयु में लिखित मोक्षमाळा में भक्तितत्त्व के विषय में लिखते हुए तलवार, भाँग और दर्पण इन तीन दृष्टांतों के द्वारा उसका स्थापन करते हैं। तलवार

से शौर्य और भाँग के सेवन से जिस प्रकार नशा चढ़ता है उस प्रकार सद्भक्ति से गुणश्रेणी विकसित होती है। जिस प्रकार दर्पण के द्वारा स्वमुख का भान होता है उस प्रकार शुद्ध परमात्मा के गुणचिंतन के समय आत्मस्वरूप का भान प्रगट होता है। कैसा दृष्टांत सौष्ठव ! (मोक्षमाळा-१३)। उसी संदर्भ मे वे आगे कहते हैं – जिस प्रकार मुरली के नाद से सोया हुआ साँप जाग जाता है उसी प्रकार सद्गुणसमृद्धि के श्रवण से आत्मा मोहनिद्रा से जाग्रत हो जाती है (मोक्षमाळा-१४)।

'मोक्षमाळा' में श्रीमद्जी ने बिना अर्थ समझे किये गये शब्दपाठ की निरर्थकता बताते हुए कच्छी बनिये लोगों की एक उपहासपूर्ण कथा प्रस्तुत की है, वह कुछ अंशों में पारिभाषिक होने के कारण मैं यहाँ प्रस्तुत नहीं करता हूँ, परंतु जो जैन हैं वे उस कथा को आसानी से समझ सकते हैं। अन्य लोग भी जैन लोगों के पास से आसानी से समझ सकेंगे। वह कथा जितनी विनोदपूर्ण तथा कुछ अंशों में अशिक्षित – से वैश्य समाज की प्रकृति के अनुरूप है, उतनी है बोधपूर्ण भी है।

जैन संप्रदाय के नव तत्त्वों की श्रीमद् सुंदर रूप से व्याख्या करते हुए एक प्रश्न हमारे समक्ष रखते हैं कि जीव तत्त्व के बाद अजीव तत्त्व आता है अजीव तत्त्व जीव तत्त्व का विरोधी तत्त्व है ; इन दो विरोधी तत्त्वों का सामीप्य कैसे उचित माना जा सकता है ?

अपनी कल्पनाशक्ति से एक वर्तुल की कल्पना करते हुए इस प्रश्न का उत्तर भी वे आकर्षक ढंग से देते हैं। वे कहते हैं – देखिए, प्रथम तत्त्व जीव तत्त्व तथा नववाँ मोक्ष तत्त्व – ये दोनों कैसे पास पास हैं ! जब कि दूसरा तत्त्व – अजीव तत्त्व जीव तत्त्व के निकट – बाजु में दिखाई देता है लेकिन यह हमारे अज्ञान के कारण है, ऐसा समझ लेना चाहिए। ज्ञानदृष्टि से देखें तो जीव और मोक्ष ही एक दूसरे के पास पास हैं। उनका इस आयु में ऐसा कल्पनाचातुर्य – सचमुच कितना असाधारण है! उसी प्रकार तेईस वर्ष की आयु में अपनी समझ के अनुसार वेदांत संमत ब्रह्माद्वैत तथा मायावाद की अयुक्तता – भिन्नता बताने के लिए एक चतुष्कोण आकृति (६३) बनाकर उसमें जगत, ईश्वर, चेतन, माया आदि के विभाग बना कर कितनी सुंदर कल्पनाशक्ति का परिचय दिया है! मायावाद का उनका निरसन कितना मूलगामी था, यह प्रश्न यहाँ महत्त्वपूर्ण नहीं है। यहाँ प्रश्न यह है कि वे जिस वस्तु को उचित या अनुचित समझते थे उसे उस प्रकार बताने हेतु, उनकी कल्पनाशक्ति

कितनी सक्षम थी। प्रश्नोत्तर की शैली में वस्तु की चर्चा करने की उनकी कल्पनाशक्ति तो छोटी आयु से ही थी जिसका परिचय हमें पहले ही हो गया है – (मोक्षमाळा–१०२ आदि) ।

बाईस वर्ष की आयु में श्रीमद्जी कभी कभी गहन मनन की मस्ती में अपने प्रिय आध्यात्मिक विकासक्रम – गुणस्थान – के विचारभुवन में प्रवेश करते हैं और फिर उस चिंतनविषय को वाणी में व्यक्त करते हुए एक मनोहर स्वलक्षी नाट्यात्मक नेपथ्य की छाया से युक्त कल्पनात्मक संवाद की रचना करते हैं (६१) और अत्यंत सरलतापूर्वक, रोचक ढंग से गुणस्थान की वस्तु विश्लेषणपूर्वक बताते हैं – उसी प्रकार आगे जा कर वही वस्तु आकर्षक ढंग से भावना के द्वारा 'अपूर्व अवसर' पद में दर्शाते हैं । जैन हो या जैनेतर – गुणस्थान को समझने की जिज्ञासावाले किसी भी व्यक्ति के लिए यह संवाद जरा भी अरुचिकर न बन कर बोधप्रदाता सिद्ध हो ऐसा है।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों के नाम तथा उसका प्रसिद्ध अर्थ सर्वविदित है, परंतु श्रीमद्जी अपनी आध्यात्मिक प्रकृति के अनुसार कल्पनाशक्ति से चारों पुरुषार्थ का अर्थ आध्यात्मिक भाव में ही प्रस्तुत करते हैं। इससे भी अधिक सुंदर और परिपक्व कल्पनाशक्ति युवान वय में परंतु उनके जीवनकाल के हिसाब से तीस वर्ष की वृद्धावस्था में उनके द्वारा सरलता से समझ में आ सकती है। जनसमाज में प्रसिद्ध दिग्भ्रम के उदाहरण के साथ उलझे हुए और सुलझे हुए सूत के धागों के उदाहरण को जोड़ कर ज्ञान और अज्ञान के बीच का वास्तविक भेद जो उन्होंने प्रकट किया है वह अंत तक दृष्टांत को योग्य रूप में प्रयुक्त करते हुए उनकी अर्थ–विस्तार की एवं वक्तव्य–स्थापन की भव्य कल्पनाशक्ति को सूचित करता है।

श्रीमद्जी में तर्कपटुता कितनी सूक्ष्म तथा निर्दोष थी यह उनके लेखों में अनेक स्थान में चमत्कारिक रूप से देखने को मिलता है । यहाँ कुछ उदाहरणों का उल्लेख करता हूँ :-

सत्रहवें वर्ष के प्रारंभ में और जिनकी मूछों के बाल भी अभी निकले नहीं थे, जिन्होंने किसी विद्वान गुरु के चरणों के पास बैठकर कोई विशेष विद्यापरिशीलन भी नहीं किया था वे कुमार राजचंद्र 'मोक्षमाळा' में एक प्रसंग प्रस्तुत करते हैं । प्रसंग इस प्रकार है:

कोई एक समर्थ विद्वान थे जो भगवान महावीर की योग्यता का सामान्य रूप में स्वीकार तो करते थे, फिर भी उनकी असाधारणता के विषय में शंका लिये श्रीमद् से उन्होंने प्रश्न किया है कि महावीर की उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यवाली त्रिपदी एवं अस्ति नास्ति आदि नय कुछ सुसंगत नहीं है। एक ही वस्तु में उत्पत्ति है और नहीं है, नाश है और नहीं है, ध्रुवत्व है और नहीं है - यह सब कैसे हो सकता है ? और अगर परस्पर विरुद्ध ऐसे उत्पाद, नाश तथा ध्रुवत्व एवं नास्तित्व तथा अस्तित्व धर्म एक वस्तु में संभव न हो तो अठारह दोष उत्पन्न होते हैं। उन समर्थ विद्वान ने जो अठारह दोष उनके समक्ष रखे, ये ही उन विद्वान की समर्थता का सूचक है। यह या ऐसे अठारह दोषों का वर्णन इतने सारे शास्त्रों को उलटपलट कर लेने के बाद भी, मेरी स्मृति के अनुसार मैने भी उन विद्वान के साथ के श्रीमद् के वार्तालाप के प्रसंग में ही पढा है। इन दोषों को सुनने के बाद उसके निवारण हेतु तथा स्वयं उनके शब्दों में कहूँ तो 'मध्य वय के क्षत्रिय कुमार' की त्रिपदी तथा नयभंगी को स्थापित करने के लिए श्रीमद् ने अपनी पूर्ण अल्पज्ञता को प्रकट कर के कांपते हुए स्वर में किन्तु हृदय की दृढ़ता के साथ केवल तर्कशक्ति के आधार पर उस चुनौती का स्वीकार करते हुए ऐसी खूबी के साथ ऐसी तर्कपटुता से उत्तर दिया है तथा सभी विरोधजन्य दोषों का परिहार किया है कि उसे पढ़ने पर गुणानुरागी हृदय में उनकी सहज तर्कपटुता के प्रति आदर उत्पन्न होता है। तर्करसिक जनोंको यह संपूर्ण संवाद उनके शब्दों में ही पढ़ना चाहिए।

आगे जा कर जगत्कर्ता की चर्चा के समय विनोदपूर्ण छटा से उस उम्र में जगत् कर्तृत्व का खंडन करते हुए तर्कपूर्ण ढंग से अपना पक्ष रखा है (मोक्षमाळा-९७) वह भले ही किसी ग्रंथ के पठन का परिणाम हो, फिर भी उस खंडनमंडन में उनकी तर्कपटुता प्रत्यक्षरूप में - स्पष्ट झलकती है।

किसी व्यक्ति को पत्र लिखते हुए जैन परंपरा के केवलज्ञान से संबंधित रूढ अर्थ के विषय में जो विरोधदर्शी शंकाओं का शास्त्रपाठ के साथ उल्लेख किया है (७९८) वह सच्चे तर्कपटु को भी प्रभावित करे ऐसा है। जिसके विषय में केवल शंका उठाने से जैन समाजरूपी इन्द्र का आसन भी कंपित हो उठे और उसके परिणामस्वरूप शंका उठानेवाले के सामने वज्रनिर्घोष की ध्वनियाँ सुनाई देती हैं, उसके विषय में श्रीमद्जी जैसे आगमों के अनन्य भक्त जिज्ञासुओं को निर्भयतापूर्वक

शंकाएँ लिखकर भेजते हैं यह उनतीस वर्ष की वय में उनका निर्भय एवं परिपक्व तर्कबल सूचित करता है ।

महीपतराम रूपराम कहते और लिखते थे कि भारतवर्ष का अधःपतन जैनधर्म के कारण है। करीब बाईस वर्ष की आयु में श्रीमद् महीपतराम के पास पहुँचे। उन्होंने महीपतराम से प्रश्न पूछना आरंभ किया। सरलचित्त महीपतराम ने सीधे ही उत्तर दिये। इन उत्तरों के क्रम में श्रीमद् ने उनको इस तरह से पकड़ा कि सत्यप्रिय महीपतराम ने अंत में श्रीमद् की तर्कशक्ति के सामने झुकते हुए स्पष्ट रूप से स्वीकार कर लिया कि 'इस विषय के बारे में मैंने कुछ सोचा नहीं है । यह तो क्रिश्चियन विद्यालयों में जैसा सुना है वैसा कहता हूँ, लेकिन आपकी बात सही है (८०८)। श्रीमद् तथा महीपतराम का यह वार्तालाप मजिझमनिकाय के बुद्ध तथा आश्वलायन के वार्तालाप की स्मृति दिलाता है ।

सत्-असत् विवेक - विचार का बल तथा तुलना सामर्थ्य श्रीमद् में विशिष्ट थे । जैन परंपरा में हमेशा तो नहीं तो आख़िर कम से कम प्रत्येक मास की कुछ तिथि पर हरी सब्ज़ी इत्यादि का त्याग करने को कहा गया है। जैनों की प्रकृति व्यापारी होने के कारण उन्होंने ऐसा मार्ग खोज निकाला कि जिससे धर्म का पालन भी हो और खाने में भी किसी प्रकार की तकलीफ का सामना करना न पड़े। उसके अनुसार वे हरी साग सब्ज़ियों को सुखा के भर लेते हैं और फिर निषिद्ध तिथियों के दिन वैसे ही स्वाद के साथ उन सूखी सब्जियों का उपयोग भोजन में करते भी हैं और हरी साग-सब्जी के त्याग का संतोष भी प्राप्त करते हैं। छोटी आयु में ही श्रीमद् के ध्यान में यह बात आ गई है।

'मोक्षमाळा' (५३) में इस प्रथा की यथार्थता-अयथार्थता के विषय में उन्होंने जो निर्णय दिया है, वह भविष्य में उनकी विकसित होनेवाली विवेकशक्ति का परिचायक है। आर्द्रा नक्षत्र का आरंभ हो तब से जैन परंपरा में आम खाना खास निषिद्ध माना जाता है। तो प्रश्न यह उठता है कि क्या आर्द्रा के बाद आम खाने ही नहीं चाहिए ? क्या आम विकृत हो ही जाते हैं ? इसका जो उत्तर उन्होंने दिया है वह कितना सही है! उन्होंने कहा है - आर्द्रा का निषेध चैत्र-बैसाख में उत्पन्न होनेवाले आमों के संबंध में है; आर्द्रा या उसके बाद आनेवाले आमों के संबंध में नहीं (७२१)। उनका यह विवेक कितना यथार्थ है उसकी कसौटी करने की इच्छावाले

जैनों को आर्द्रा के बाद उत्तर प्रदेश, बिहार आदि राज्यों में आम देखने एवं खाने हेतु जाना चाहिए।

वस्त्रों की पसंदगी के विषय में देखे जानेवाले छिछोरेपन (उद्धटता) के विषय में श्रीमद्‌जी द्वारा प्रदर्शित विचार उनकी व्यवहारकुशलता का सूचक है। वे सुरुचिपूर्ण पहनावे में मानते हैं, परंतु छिछोरेपन से किसीकी योग्यता में वृद्धि हो सकती है और सादगी के कारण योग्यता में कमी होती है ऐसा वे नहीं मानते हैं। देखें उन्हीं के शब्द : 'पहनावे में छिछोरापन नहीं फिर भी सुघड़तापूर्ण सादगी ही अच्छी है। छिछोरेपन के कारण पाँचसौ की तनख्वाह से कोई पाँचसौ एक न देगा और योग्य सादगी के कारण कोई पाँचसौ से घटा कर चारसौ निन्यानबे नहीं देगा।' (७०६)

योग्य विचार किये बिना धर्म के नाम पर धांधली मचानेवाले, वर्तमान समय में तो श्वसुरगृह की तरह विदेशों में बसनेवाली संतति के जैन पूर्वजों नें चालीस-पचास वर्ष पहले वीरचंद गांधी के धर्मपरिषद के निमित्त से होनेवाले अमरिका के प्रवास के समय भारी विरोध उठाया तब उन्हीं व्यापारियों के बीच एक व्यापारी के रूप में रहने पर भी विदेशगमन के निषेध के विषय में श्रीमद्‌जी ने जो विचार व्यक्त किया है, वह विचार प्रसिद्ध जैनाचार्य आत्मारामजी के विचार की ही भाँति कितना विवेकपूर्ण एवं निर्भय है! जैन समाज की प्रकृति का यह द्योतक होने के कारण उन्हीं के शब्दों में पढ़ने योग्य है। वे लिखते हैं:–

"धर्म में लौकिक बड़प्पन, मानमहत्त्व की इच्छा – यह सब धर्म के द्रोहरूप है।"

"अनार्य देश में जाने का या सूत्र आदि भेजने का धर्म के नाम पर निषेध करनेवाले, ढोल बजा कर निषेध करनेवाले, अपने मान–महत्त्व–बड़प्पन का सवाल आने पर उसी धर्म को ठोकर मारकर, उसी धर्म पर पाँव रख कर, उसी निषेध का निषेध करें, यह धर्मद्रोह ही है। धर्म का महत्त्व तो बहानारूप और स्वार्थिक मान आदि का सवाल मुख्य – यह धर्मद्रोह ही है।"

"वीरचंद गांधी के विलायत आदि भेजने के विषय में ऐसा हुआ है।" 'धर्म ज मुख्य एवो रंग त्यारे अहोभाग्य' (७०६) 'धर्म ही मुख्य रंग जब हो तब अहोभाग्य!'

श्रीमद् के कुछ परिचित मित्र, संबंधीजन और शायद आश्रयदाता भी कट्टर मूर्तिविरोधी स्थानकवासी थे । वे स्वयं भी प्रथम तो उसी मत के थे, परंतु जब उन्हें प्रतिमा के विषय में सत्य समझ में आया तब किसी की परवाह किये बिना प्रतिमासिद्धि हेतु बीस वर्ष की आयु में उन्होंने जो लिखा है, वह उनके विचार गांभीर्य का द्योतक है । जिज्ञासु जनों को (२०) वह मूल लेख पढ़कर ही परीक्षा करनी चाहिए। उसी प्रकार केवल जैन परंपरा के अभ्यासी द्वारा श्रीमद् की विचारशीलता की परीक्षा करने हेतु – इस युग में क्षायिक सम्यक्त्व संभव है या नहीं – इस विषय में की गई चर्चा (३२३) उन्हीं के शब्दों में पढ़ने योग्य है।

विशिष्ट लेखादि

श्रीमद् के लिखित साहित्य को तीन विभागों में वर्गीकृत कर के उनमें से सामान्य या महान – किसी भी प्रकार की – विशेषता से युक्त कृतियों का यहाँ परिचय देना चाहता हूँ । प्रथम विभाग में मैं ऐसी कृतियों का समावेश करता हूँ जो गद्य हों या पद्य परंतु जिनकी रचना श्रीमद् ने एक स्वतंत्र या अनुवादित कृति के रूप में ही की हो। द्वितीय विभाग में मैं उनकी उन कृतियों को समाविष्ट करता हूँ जो किसी जिज्ञासु के प्रश्नों के उत्तर के रूप में या ऐसे ही किसी संदर्भ में लिखी गई हों। तृतीय विभाग में ऐसे लेख आते हैं जो स्वतः चिंतन करते हुए Note के रूप में लिखे गये हों या उनके उपदेश में से उद्धृत हुए हों।

अब प्रथम विभाग की कृतियों को देखें: (१) **पुष्पमाला** – यह श्रीमद्जी की उपलब्ध कृतियों में से सर्वप्रथम कृति है। यह किसी संप्रदाय विशेष को लक्ष्य कर के नहीं, बल्कि सर्वसाधारण नैतिकधर्म तथा कर्तव्य की दृष्टि से लिखी गई है। माला में १०८ मनके होते हैं, उसी प्रकार यह कृति १०८ नैतिक पुष्पों से गुम्फित है तथा किसी भी धर्म, जाति या पंथ के स्त्री एवं पुरुष के लिए गले में धारण करने योग्य अर्थात् नित्य पठनीय एवं मननीय है। इस कृति की अन्य विशेषताएँ भी हैं लेकिन इसकी ध्यान आकर्षित करनेवाली विशेषता तो यह है कि वह सोलह वर्ष से भी कम आयु में लिखी गई है! एक बार किसी बातचीत के दरम्यान गाँधीजी ने इस कृति के विषय में मुझे एक ही वाक्य कहा था, जो उसकी विशेषता का परिचय कराने के लिए पर्याप्त है और वह वाक्य था – **''अरे, वह पुष्पमाला तो पुनर्जन्म की साक्षी है।''**

मनुष्य चाहे अंतर्मुख हो या बहिर्मुख व्यक्तिगत जीवन एवं सामुदायिक जीव की स्वस्थता हेतु उसे सामान्य नीति की आवश्यकता होती ही है। ऐसी व्यावहारि नीति की शिक्षा के हेतु से 'पुष्पमाला' की रचना करने के बाद श्रीमद्जी को अंतर्मु अधिकारी जनों के लिये लिखने की, कुछ विशिष्ट लिखने की, प्रेरणा प्राप्त हुई ऐसा लगता है। उसमें से उन्होंने आध्यात्मिक जिज्ञासा को संतुष्ट करने एवं उसकी पुष्टि हेतु दूसरी कृति की रचना की। उसके उद्देश एवं विषय के अनुरूप उन्हों उसका नाम रखा **'मोक्षमाला'**। माला अर्थात् १०८ मनके अर्थात् १०८ पाठ समझ ही लेना चाहिए। उसका दूसरा भाग 'प्रज्ञावबोध मोक्षमाला' लिखने उनकी भावना थी जो पूरी न हुई। फिर भी सद्भाग्य से जिन विषयों पर वे लिख चाहते थे उनकी सूची बनाई थी वह लभ्य है (८६५)। कोई विशिष्ट प्रज्ञावान व्यक्ति को उन विषयों पर लिखना चाहिए, यह कहना शायद आवश्यक नहीं है।

'मोक्षमाला' में चर्चित धर्म से संबंधित विषय विशेषतः जैन धर्म को ही ल में रख कर लिये गये हैं। उनमें उनके प्रथम परिचित स्थानकवासी शास्त्र त स्थानकवासी परंपरा का प्रभाव स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है फिर भी समग्र रू देखें तो सर्वसाधारण जैन संप्रदाय को अनुकूल लगे उस ढंग से मध्यस्थभाव से लिखे गये हैं। मोक्षमाला की विशेषताएँ तो उसके अध्ययन के द्वारा ही समझी ज यही अधिक योग्य होगा, फिर भी यहाँ उसकी एक विशेषता अवश्य उल्लेखनीय है सोलह साल और तीन मास की लघु वय में, जो न तो किसी विद्यालय महाविद्यालय में पढ़ा है या जिसने न किसी संस्कृत या धार्मिक पाठशाला में कु सीखा है ऐसे उस किशोर रायचंद ने केवल तीन दिन में इतनी सरलता से यह रच तैयार कर दी, फिर भी किसी प्रौढ़ अध्ययनशील व्यक्ति को भी उसमें सुधारने जै शायद ही कुछ दिखाई देगा।

अब हमारी सुविधा हेतु २९ वे वर्ष में लिखी गई **'आत्मसिद्धि'** को (६ हम प्रथम लेंगे। उसमें १४२ गाथाएँ हैं। उसका 'शास्त्र' नाम सार्थक है। उसमें आचार–विचार प्रक्रिया उसके मूलरूप में पूर्णरूप से आ जाती है। उसमें जो वि हैं वे पक्व हैं। अवलोकन तथा चिंतन विशाल एवं गंभीर हैं। जो तत्त्व को सम चाहते हो और संस्कृत–प्राकृत ग्रंथों के जंगल में उलझे बिना ही उसे स्पर्श क चाहते हों, उनके लिए यह शास्त्र नित्य पठनीय है। सन्मति, षड्दर्शनसमु योगबिन्दु, योगदृष्टिसमुच्चय, समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रंथों का यह निष्क

और फिर भी तत्कालीन गच्छ, पंथ और एकांत प्रवृत्ति का स्वानुभवसिद्ध वर्णन तथा समालोचन भी उसमें है। सर्वसाधारण के लिए तो नहीं, परंतु जैन मुमुक्षुओं के लिए तो यह गीता के समान ही सिद्ध होता है। अगर इसमें जैन परिभाषा को गौण करके बाद में व्यापक धर्मसिद्धांतों की चर्चा की होती तो वह भाग गीता के द्वितीय अध्याय का स्थान लेता। आज गीता के समान सर्वमान्य बन सके ऐसे पद्यात्मक ग्रंथ की माँग जैन लोगों के द्वारा की जाती है। अगर श्रीमद्जी के समक्ष स्पष्ट रूप में यह बात आई होती तो उन्होंने उस कमी को गुजराती भाषा के द्वारा योग्य रूप से दूर किया होता। यह सही है कि इसे समझने के लिए अधिकार-योग्यता आवश्यक है। तर्कशास्त्र की शुद्ध एवं क्रमिक दलीलें बुद्धिशोधन के बिना समझ में नहीं आ सकतीं। एक ओर देखें तो कई लोग दुराग्रह के कारण इसे जानने-समझने का या स्पर्श करने का भी प्रयत्न नहीं करते हैं तो दूसरी ओर इसे सर्वस्व माननेवाले, इसका सदा पाठ करनेवाले, इसे समझने की तैयारी वास्तव में करते ही नहीं हैं। ये दोनों एकांत (अतियाँ) हैं।

'आत्मसिद्धि शास्त्र' के संस्कृत, हिंदी तथा अंग्रेजी भाषा में भाषांतर हुए हैं परंतु उसकी वास्तविक खूबी मूल गुजराती में ही है। जैन परंपरा के सर्वमान्य प्रामाणिक गुजराती धर्मग्रंथ के रूप में यह शास्त्र सरकारी, राष्ट्रीय या अन्य किसी भी संस्था के पाठ्यक्रम में स्थान लेने की योग्यता रखता है।

विशिष्ट भाषांतर कृतियों में दिगंबर आचार्य कृंदकुदकृत प्राकृत **'पंचास्तिकाय'** का श्रीमद्जी द्वारा किया गया गुजराती भाषांतर समाविष्ट होता है (७००)। विवेचन कृतियों में आध्यात्मिक श्वेतांबर मुनि आनंदघनजी (६९२) चिदानंदजी (९) के कतिपय पद्य पर उनके द्वारा किये गये विवेचन प्राप्त होते हैं। प्रसिद्ध दिगंबर तार्किक समंतभद्र के केवल एक ही प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक का विवेचन श्रीमद्जी ने किया है । (८६८) यह विवेचन प्रमाण की दृष्टि से नहीं, परंतु गुण की दृष्टि से इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि किसी भी विवेचक के लिए मार्गदर्शक बनने की योग्यता-क्षमता ये रखते हैं। ये विवेचन पांडित्य में से नहीं, बल्कि सहजरूप से उत्पन्न आध्यात्मिकता में से प्रस्फुटित हुए हों ऐसा भास होता है।

'अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे?' इस ध्रुव पंक्तिवाला श्रीमद्जी का काव्य (४५६) आश्रम भजनावली में स्थान प्राप्त करने के कारण केवल जैनों में या

गुजराती जनता में ही नहीं, बल्कि थोड़ी बहुत गुजराती भाषा जाननेवालों में भी प्रचलित हुआ है और अधिक प्रचलित होता जा रहा है। इस पद्य का विषय जैन प्रक्रियानुसार गुणश्रेणी है। उसमें प्रक्रिया का ज्ञान एवं भाव तादात्म्य स्पष्ट है। यह पद्य ऐसे आत्मिक उल्लास में से स्फुरित हो कर लिखा गया है कि पाठक को भी शांति प्रदान करता है। जैन प्रक्रिया होने के कारण उसमें भाव की सर्वगम्यता आये यह तो संभव ही नहीं है। नरसिंह महेता आदि के भजन लोकप्रिय हैं क्यों कि उसकी वेदांत–परिभाषा भी उतनी अगम्य नहीं होती है, जितनी इस पद्य में है। इसका विवेचन अगर साधारण एवं सर्वदर्शन परिभाषा में तुलनात्मक दृष्टि से किया जाय तो वह अधिक प्रसरित हो सकता है । नरसिंह महेता के भजन 'वैष्णवजन तो तेने कहीए' भजन में वर्णित वैष्णवजन (बौद्ध परिभाषा में बोधिसत्त्व) साधना के क्रम में लोकसेवा के कार्य की योग्यता रखता है, जब कि 'अपूर्व अवसर' भजन में निहित भावनावाला आर्हत् साधक नितांत आध्यात्मिक एकांत की गहन गुफा में सेव्य-सेवक के भाव को भूल कर समाहित हो जाने की तत्परतामय दिखाई देता है।

'निरखीने नवयौवना' इत्यादि ब्रह्मचर्य विषयक दोहे (मोक्षमाला-३४) किसी गहन उद्गम में से उद्भुत हुए हैं। स्वयं गाँधीजी भी कभी कभी इसका पाठ करते थे ऐसा सुना है। सत्रह वर्ष की आयु में विरचित **'बहु पुण्य केरा पुंजथी'** इत्यादि हरिगीत निबद्ध काव्य (मोक्षमाला-६७) शब्द एवं अर्थ दोनों रूप में अति गंभीर है जैसे परिपक्व वय में लिखा गया हो ..! ब्रह्मचर्य विषयक दोहों के विषय में भी यही कहा जा सकता है।

'हे प्रभु! हे प्रभु! शुं कहुँ?' काव्य (२२४) केवल आत्म निरीक्षण से परिपूर्ण है, सराबोर है। **'जडभावे जड परिणमे'** काव्य (२२६) पूर्णतः जैन आत्मप्रक्रिया का बोधक है। **'जिनवर कहे छे ज्ञान तेने'** इस ध्रुवपंक्ति वाला काव्य (२२७) जैन परिभाषा में ज्ञान की तात्त्विकता का निरूपण करता है ।

इन सभी अलग अलग काव्यों को विशिष्ट कृति में समाविष्ट करने का कारण यह है कि इन सब में एक या दूसरे रूप में जैन तत्त्वज्ञान तथा जैन भावना अत्यंत स्पष्टरूप में व्यक्त हुई है और ये सब सुपाठ्य हैं, सरल हैं। जिसने एक बार जैन परिभाषा के पर्दे को पार कर लिया, उसे तो चाहे वह कितनी ही बार पढ़े तो भी उसे उसमें से नावीन्य का ही अनुभव हो ऐसा है।

विशिष्ट कृतियों के दूसरे विभाग में भिन्न भिन्न समय में गाँधीजी को लिखे गये तीन पत्र हैं। प्रथम पत्र (४४७) में जिस प्रकार प्रश्न विस्तृत है उसी प्रकार उत्तर भी विस्तृत - दीर्घ है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि ये प्रश्न तात्त्विक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार के हैं तथा एक बेरिस्टर की बुद्धि के लिए उचित ऐसे व्यवस्थित हैं और जो उत्तर दिये गये हैं वे प्रज्ञा एवं अनुभव ज्ञान में से प्रस्फुटित हैं। उसके प्रत्येक पद में - प्रत्येक शब्द में समत्व का दर्शन होता है। सर्प को मारने न मारने का न्याय प्रज्ञापाटव तथा वस्तुस्थिति को सूचित करता है । यद्यपि आज के परिप्रेक्ष्य में यह उत्तर अपर्याप्त ही है। सामूहिक दृष्टि से भी ऐसी बातों में विचार करना अनिवार्य हो जाता है। गाँधीजी ने यह विचार बाद में किया। श्रीमद्जी क्या करते यह कहा नहीं जा सकता किंतु जैनों के लिए एवं सभी के लिए इस विषय में सोचना आवश्यक है। बुद्ध के विषय में श्रीमद्जी ने जो अभिप्राय दिया है वह अगर उन्होंने उनके मूल ग्रंथों का पूर्ण अध्ययन किया होता तो कुछ भिन्न प्रकार का होता ।

गाँधीजी को लिखे गये दूसरे पत्र में (४८२) विवेकज्ञान, उसकी संभावना तथा उसके साधनों का स्पष्ट चित्र है।

तीसरे पत्र में (६४१) आर्य विचार-आचार, आर्य-अनार्य क्षेत्र, भक्ष्याभक्ष्य विवेक, वर्णाश्रमधर्म की अगत्यत्या, जाति-पाँति आदि के भेद और खान-पान के परस्पर व्यवहार आदि के विषय में स्पष्टता की है। आज भी गाँधीजी के विकसित तथा व्यापक जीवनक्रम में मानों श्रीमद् की उन स्पष्टताओं के संस्कार निहित हों ऐसा प्रतीत होता है ।

ये तीनों पत्र सभी के लिए पढ़ने योग्य हैं । इन पत्रों की विशेषता का कारण यह है कि वे अन्य लोगों को लिखें उससे गाँधीजी को कुछ अलग ही लिखना होता है— अधिकारी व्यक्ति के प्रश्न के अनुसार ही उत्तर हो सकता था ।

गाँधीजी के अतिरिक्त अन्य किसीको लिखे गये पत्रों में हम व्यवहार विषयक चर्चा क्वचित् ही देखते हैं। दूसरे पत्रों में लोक, पर्याय, केवलज्ञान, सम्यक्त्व इत्यादि की चर्चा होती है। जब कि गाँधीजी धार्मिक दृष्टि से व्यावहारिक प्रश्न पूछते थे और आज हम देखते हैं कितने व्यावहारिक प्रश्नों का समाधान गाँधीजी ने धर्मदृष्टि से ढूँढा है! सामान्य जैन वर्ग एवं अन्य वर्ग अनधिकार प्रश्न ही करते हैं, ऐसा सर्वकालीन अनुभव श्रीमद् को पूछे जाने वाले प्रश्नों में भी सत्य सिद्ध हुआ है।

गाँधीजी उनमें एक अपवादरूप थे। ज्ञातिभोजन, ज्ञाति के बाहर भोज भक्ष्याभक्ष्यविचार, इसी में किस सीमा तक छूट ली जा सकती है, इत्यादि प्र गाँधीजी की वकीलदृष्टि एवं विदेश में आ पड़ी – उपस्थित परिस्थिति के कारण जैनों के प्रश्न भगवान महावीर के समय में किये जा रहे प्रश्नों के प्रायः समान ही ऐसा लगता है कि जैनों के मानस की परिस्थिति कुछ वैसी ही आज तक चली रही है।

अंक ५३८ वाला पत्र किसी जैन जिज्ञासु के प्रश्न के उत्तर में लिखा गया यह पत्र जैन तत्त्वज्ञान का अध्ययन करनेवाले व्यक्ति की रुचि को पुष्ट करे ऐसा उसमें नियत स्थान से ही संबंधित इन्द्रियानुभव कैसे होता है तथा इन्द्रियाँ कि विशेष परिस्थिति में ही काम कैसे करतीं हैं उसका बहुत ही स्पष्ट समाधान उन्हों दिया है – जैसा कि सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक आदि में मिलता है।

अंक ६३३ वाला पत्र जिसमें आश्रमों के क्रमानुसार जीवन जीना चाहिए कभी भी उसका त्याग किया जा सकता है इस प्रश्न की चर्चा की है और जिस कुछ निर्देश मैंने पहले भी किया है वह पत्र भी एक गंभीर विचार की चर्चा करनेवाला होने के कारण विशेष रूप से सब का ध्यान आकर्षित करता है।

विशिष्ट कृतियों के तृतीय विभाग में अंक ७०७-८ वाला लेख हम प्र लेंगे। यह शायद स्वचिंतनजन्य लेखन है। बीमारी की अवस्था में औषधोपचा करना या नहीं यह विचार जैन समाज में विशेष कर के जिनकल्प भावना के कार आया है। इस विषय पर श्रीमद् ने इस लेख में अच्छा प्रकाश डाला है तथा गृहस्थ तथा साधु दोनों के संबंध में पूर्ण अनेकांत दृष्टि अपनाई है, जो वास्तविक है औषधि तैयार करने में या लेने में अगर पापदृष्टि है तो उसका फल भी औषधि की तरह अनिवार्य है इस बात का विवेचन उन्होंने मार्मिक ढंग से किया है। औषधि द्वारा रोग का शमन किस प्रकार हो? क्यों कि रोग का कारण तो कर्म है और कर्म का प्रभाव हो तब तक बाह्य औषधि क्या कर सकती है? इस कर्म दृष्टि के विचार उन्होंने सुंदर जवाब दिया है।

इन लेखों में श्रीमद्जी ने तीन अंशों को स्पर्श किया हो ऐसा लगता है: १.रो कर्मजनित है तो उस कर्म का प्रभाव चालू हो तब तक औषधोपचार किस का का? यह एक प्रश्न है। २.रोगजनक कर्म औषध निवर्त्य जाति का है या अन्य प्रका

का यह ज्ञान न होने पर भी औषधोपचार की झंझट में क्यों पड़ें ? – विशेषरूप में यह बात धार्मिक गृहस्थों एवं त्यागीजनों को स्पर्श करती है। यह दूसरा प्रश्न है। ३.औषधोपचार करें तो भी पुनः कर्मबंध तो अवश्य होनेवाला है, क्यों कि औषधि बनाने की प्रक्रिया में तथा उसका उपयोग करते समय मन में रही पापवृत्ति निष्फल तो नहीं ही रहती। तो फिर यह तो एक रोग का निवारण कर के नये रोग के बीज को बोने जैसा ही हुआ। इसका समाधान कहाँ ढूंढा जाय? यह तीसरा प्रश्न है।

इन तीनों प्रश्नों की चर्चा श्रीमद्‌जी ने कर्मशास्त्र की दृष्टि से की है। औषधि तथा वेदनीय–कर्मनिवृत्ति के बीच का संबंध बताते हुए तथा कर्मबंध और विपाक की विचारणा करते हुए उन्होंने जैन कर्मशास्त्र के विषय मे मौलिक चिंतन व्यक्त किया है।

जैन तत्त्वज्ञान में रुचि रखनेवाले सभी लोगों के लिए पूरा 'व्याख्यानसार' (७५३) पठनीय है। उसको पढ़ने से ऐसा लगता है कि **अगर उन्होंने पूर्ण एवं परिपक्व रूप में सम्यक्त्व का अनुभव न किया होता तो उसके विषय में इतने स्पष्ट रूप से और बार बार कह न सकते**। जब वे इस विषय में कहते हैं तब केवल स्थूल स्वरूप की बात वे नहीं कहते। उनकी इन बातों मे अनेक प्रसिद्ध उदाहरणों का वर्णन भी आकर्षक रूप में आता है। **पहले कभी केवलज्ञान की नई परिभाषा प्रस्तुत करने की बात सोची होगी उस परिभाषा को उन्होंने यहाँ सूचित किया है ऐसा लगता है, जो कि जैन परंपरा में एक नूतन प्रस्थान तथा नूतन विचारणा को उपस्थित करती है**। इसमें विरति–अविरति तथा पापक्रिया की निवृत्ति–अनिवृत्ति के विषय में मार्मिक विचार व्यक्त हुए हैं।

श्रीमद्‌जी पर क्रियालोप का जो आक्षेप किया जाता था, उसके विषय में उन्होंने स्वयं ही इसमें स्पष्टता की है, जो उनकी सत्यप्रियता तथा निखालसता का परिचय करवाती है।

'उपदेशछाया' (६४३) शीर्षक लेख संग्रह में श्रीमद् की आत्मा में सदा रममाण विविध विषयों के चिंतनों की छाया है, जो जैन जिज्ञासु जनों की रुचि के लिए विशेष पुष्टिकर है।

उपसंहार

बंगाली, मराठी, हिंदी और गुजराती आदि प्रांतीय भाषाओं में, जिनमें गृहस्थ अथवा त्यागी जैन विद्वानों और विचारकों द्वारा लेखन प्रवृत्ति होती है और अधिक संभवित है, उनमें से प्रसिद्ध जैन आचार्य आत्मारामजी की हिंदी कृतियों के अतिरिक्त एक भी भाषा में बीसवीं शताब्दि में लिखा गया एक भी ऐसा ग्रंथ मैंने नहीं देखा जिसे लेखनशैली - गांभीर्य, मध्यस्थता तथा मौलिकता की दृष्टि से श्रीमद्जी के लेखों के समकक्ष रखा जा सके या उनकी अंशतः तुलना की जा सके। इस कारण से **समग्र आधुनिक जैन साहित्य की दृष्टि से विशेष रूप में जैन तत्त्वज्ञान तथा चरित्र विषयक गुजराती साहित्य की दृष्टि से श्रीमद् के लेखों का मूल्य बहुत अधिक है।** वर्तमान समय में अनेक वर्षों से जैन समाज में आज की नई पीढ़ी को नूतन शिक्षा के साथ धार्मिक एवं तत्त्वज्ञान विषयक जैन शिक्षा दे सकें ऐसे पुस्तकों की माँग हर तरफ से अनवरत हो रही है ऐसा देखा गया है । अनेक संस्थाओं ने अपनी अपनी शक्ति-संभावनाओं के अनुसार ऐसी माँग की पूर्ति हेतु कुछ प्रयत्न किये हैं और छोटी-बड़ी पुस्तकें प्रसिद्ध की हैं। परंतु मैं जब निष्पक्षभाव से इन सब के विषय में सोचता हूँ तब मुझे स्पष्ट प्रतीति होती है कि ये सभी प्रयत्न तथा यह संपूर्ण साहित्य श्रीमद् के साहित्य के सम्मुख बालिश तथा कृत्रिम जैसा है। उनके लेखों में से ही पूर्ण रूप से कुछ भाग पसंद कर के, अध्ययन करनेवालों की वय तथा योग्यता के अनुसार पाठ्यक्रम तैयार किया जाय - जिसमें कोई खर्च या किसी प्रकार के परिश्रम आदि का भी बोझ नहीं है - तो धार्मिक साहित्य से संबंधित जैन समाज की माँग की उनके लेखों के द्वारा अन्य किसी पुस्तक की अपेक्षा अधिक सुंदर रूप से पूर्ति की जा सकती है। उनके साहित्य में किशोर से लेकर प्रौढ़ वय के मनुष्यों के लिए तथा प्राथमिक कक्षा के विद्यार्थी से लेकर गहन चिंतकों के लिए - हर कक्षा के जिज्ञासुओं के लिए अध्ययन की सामग्री मौजूद है। हाँ, इस सामग्री के सदुपयोग हेतु असंकुचित एवं गुणग्राहक मानसचक्षु अति आवश्यक है ।

श्रीमद् के संपूर्ण जीवनकाल से अधिक समय अध्ययन में बीतानेवाला, श्रीमद् के भ्रमण तथा परिचयक्षेत्र से अधिक विस्तृत क्षेत्र में भ्रमण करनेवाला तथा विविध क्षेत्रों के अनेक विद्यागुरुओं के चरणों में विनयपूर्वक बैठनेवाला मेरे जैसा अल्पज्ञानी भी चाहे तो उनके लेखों में त्रुटियाँ बता सकता है; परंतु जब उनकी अपने ही बल पर विद्या प्राप्त करने की, शास्त्राध्ययन की तथा तत्त्वचिंतन की प्रकृति और

उन पर स्पष्ट एवं प्रवाहबद्ध लेखन की क्षमता और वह भी घर के आँगन में खेलने की किशोरावस्था से तथा बाद में अपने व्यवसाय आदि की विविध प्रवृत्तियों के बीच - को देखकर **श्रीमद् जैसे व्यक्ति को उत्पन्न करनेवाली जैन संस्कृति के प्रति ही नहीं, गुजरात की संस्कृति के प्रति भी हमारा मस्तक स्वयं झुक जाता है।** जैन समाज के लिये तो वह व्यक्ति आदरणीय स्थान चिरकालीन बनाए रखेगा इसमें शंका हो ही नहीं सकती। तटस्थभाव से एक सच्चे चिंतक के रूप में श्रीमद् के साहित्य को पढ़े बिना उनके विषय में अभिप्राय स्थिर करना या व्यक्त करना विचारक की दृष्टि में उपहासास्पद बनने जैसा तथा अपना स्थान खोने जैसा है।

'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथ के अंतिम संस्करण को देख लेने के बाद उस संस्करण की खटकनेवाली कुछ क्षतियों के प्रति उनके अनुगामियों का ध्यान आकर्षित करना योग्य समझता हूँ। ये क्षतियाँ रहेंगी तब तक विद्वान लोग 'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथ का उचित मूल्यांकन नहीं कर सकेंगे। क्षतियाँ परिशिष्ट तथा शुद्धि विषयक हैं:-

- सर्वप्रथम तो - विषयानुक्रम हो यह आवश्यक है।
- कुछ परिशिष्टों में -

१. इस ग्रंथ में उल्लेखित ग्रंथ एवं ग्रंथकारों विषयक

२. इस ग्रंथ में दिये गये उदाहरण विषयक - उसके मूल ग्रंथ तथा स्थानों के उल्लेख के साथ

३. इस ग्रंथ में प्रयुक्त सभी पारिभाषिक शब्दों के विषय में जिनकी परिभाषा दी गई हो और जिनकी परिभाषा न दी गई हो

४. इस ग्रंथ में चर्चित विषय मूल रूप में जिन ग्रंथों से लिए गये हों उन ग्रंथों में उन विषयों का स्थान और जहाँ आवश्यक हो वहाँ उन पाठों को दर्शानेवाला-

- इस प्रकार अनेक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ऐसे कुछ अन्य परिशिष्ट भी दिये जायँ यह आवश्यक है। अपने लेखों में उनके द्वारा प्रयुक्त संस्कृत और प्राकृत शब्दों को यथावत् रखते हुए जहाँ विकृति हो वहाँ कोष्ठक में प्रत्येक शब्द का शुद्ध रूप देने से ग्रंथ का महत्त्व कोई कम नहीं होगा।

इस प्रसंग पर श्रीमद् के स्मारक के रूप में चल रही संस्थाओं के विषय में सूचन करना अप्रासंगिक नहीं होगा। जितना मुझे मालूम है उसके अनुसार उनके स्मरणरूप में चलने वालीं दो प्रकार की संस्थाएँ हैः कुछ आश्रम और परमश्रुत प्रभावक मंडल। आश्रमों के विषय में तो इतना ही बताना पर्याप्त होगा कि **आश्रम के संचालकों तथा आश्रमवासियों को उस प्रकार से व्यवस्थित अभ्यास तथा चिंतनक्रम आयोजित करना चाहिए जिससे श्रीमद्जी द्वारा सूचित शास्त्राभ्यास, मनन तथा स्वयं निर्णय लेने की वृत्ति का ही विकास** हो। उनकी चरणपादुका या छबि – चित्रपट आदि की सुवर्ण पूजा करने के स्थान पर **उनकी सादगी तथा वीतरागभावना के योग्य तथा विचारकों की दृष्टि में परिहास का भाजन न बने उस प्रकार की योग्य भक्ति को स्थान दिया** जाना **चाहिए।**

'परमश्रुत प्रभावक मंडल' ने आज तक व्यापक दृष्टि से राष्ट्रीय भाषा में अनेक पुस्तक प्रकाशित किये हैं। वैसे देखें तो यह प्रयास स्तुत्य माना जा सकता है, परंतु वर्तमान समय में उपस्थित आवश्यकता लोगों की साहित्य विषयक माँग और विकासक्रम को ध्यान में लेकर मंडल को संपादन-मुद्रण का दृष्टिबिंदु बदलना ही चाहिए। पुस्तकों का चयन, अनुवाद की रीत, उसकी भाषा तथा प्रस्तावना, परिशिष्ट आदि कैसे और कितने छोटे-बड़े होने चाहिए ये सब बातें निश्चित करने के लिए मंडल के द्वारा कम से कम दो-तीन विद्वानों की समिति का गठन किया जाना चाहिए। तथा उनके द्वारा ही अनुवादकर्ताओं तथा संपादकों का चयन करने का, लेख आदि सामग्री तैयार होने के बाद उन्हें जाँचने आदि का कार्य करवाकर पुस्तक मुद्रण के लिए भेजे जाय ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए। इस मंडल के द्वारा आज तक प्रकाशित असंख्य पुस्तकों को जब देखता हूं, तब मूल पाठ, अनुवाद, भावकथन, संशोधन आदि से संबंधित अनगिनत अक्षम्य भूलों को देख कर **व्यापारी जैन समाज के हाथों साहित्य की तेजस्वी आत्मा का हनन** हो रहा **हो ऐसे दृश्य का अनुभव कर रहा हूँ।**

'श्रीमद् राजचंद्र' ग्रंथ का हिंदी या अन्य किसी भाषा में अनुवाद करने में रुचि रखने वाले उनके अनेक भक्त हैं। उनका ध्यान इस बात की ओर खींचना आवश्यक है:

श्रीमद् की भाषा गुजराती है, परंतु उनकी रचनाओं में प्रयुक्त भाषा उनकी विशिष्ट भाषा है। **इस आधुनिक युग में जैन तत्त्वचिंतन सर्व प्रथम उन्होंने ही किया और लिखा, अतः उनकी भाषा ने विशिष्ट स्वावलंबी रूप धारण किया।** उनमें चर्चित विषय अनेक ग्रंथों में से तथा कुछ स्वतंत्र भाव से गहन चिंतन में से आये हुए हैं। इस कारण से अनुवादक के चयन में अगर इन तीन बातों को ध्यान में नहीं रखेंगे तो ये अनुवाद केवल शाब्दिक अनुवाद ही होंगे:

१. मातृभाषा के समान ही श्रीमद् की भाषा का तलस्पर्शी परिचय अनुवादकर्ता ने प्राप्त किया हो।

२. उसमें चर्चित विषयों का गहन-परिपक्व एवं स्पष्ट परिशीलन अनुवादकर्ता द्वारा किया गया हो।

३. जिस भाषा में अनुवाद करना हो उस भाषा में लिखने में अनुवादकर्ता सिद्धहस्त हो।

ये सारी सुविधाएँ प्राप्त कराने के लिए **ऐसे अनुवादकर्ता प्राप्त करने हेतु जो उचित खर्च करना आवश्यक हो, वह करने में वैश्यवृत्ति जरा भी न करके समयानुकूल उदारवृत्ति का अवलंबन लेना चाहिए ... !** (''श्री राजचन्द्रनां विचाररत्नो'' गुजरात विद्यापीठ में से उद्धृत)।

* * * * *

लेखांक २

श्रीमद् राजचंद्र की आत्मोपनिषद्

पद्मभूषण प्रज्ञाचक्षु डा. पंडित श्री सुखलालजी
(मूल गुजराती से अनूदित गहन अध्ययन-चिंतनपूर्ण निबंध)

भारत की अध्यात्म साधना अत्यन्त ही प्राचीन और प्रसिद्ध है। हज़ारों वर्ष पूर्व वह प्रारम्भ हुई थी। यह ज्ञात नहीं है कि किसने प्रारम्भ की, परन्तु उस साधना के पुरस्कर्ता अनेक महापुरुष प्रसिद्ध हैं। बुद्ध - महावीर पूर्व की वह ऋषि परम्परा है। उनके पश्चात् भी अब तक उस साधना को समर्पित पुरुष देश के भिन्न भिन्न स्थानों मे, भिन्न भिन्न परंपराओं में एवं भिन्न भिन्न ज्ञाति - जाति में होते आये हैं। उन सब का संक्षिप्त इतिहास भी कोई थोड़ा-सा नहीं है। वह है भी मनोरंजक एवं प्रेरणादायक परंतु यहाँ उसके लिए स्थान नहीं है। यहाँ तो उसी ही अध्यात्म - परंपरा में समुत्पन्न श्रीमद् राजचंद्र, जो गुजरात के अंतिम सुपुत्रों में से एक असाधारण सुपुत्र हो गये, उनकी अनेक कृतियों में से बहुत प्रसिद्ध एवं आदर प्राप्त एक कृति के विषय में कुछ कहना प्राप्त है।

श्रीमद् राजचंद्र की यह प्रस्तुत कृति 'आत्मसिद्धि' के नाम से प्रसिद्ध है। मैंने उसे शीर्षक में आत्मोपनिषद् कहा है। आत्मसिद्धि पढ़ते हुए और उस के अर्थ का पुनर्विचार करते हुए मैं यह प्रतीत किये बिना नहीं रहता कि इस छोटी-सी कृति में श्रीमद् राजचंद्र ने आत्मा से सम्बन्धित आवश्यक पूर्ण रहस्य दर्शित कर दिया है। मातृभाषा में और वह भी छोटे छोटे दोहों-छंदों में, उसमें भी तनिक मात्र भी खींचातानी किये बिना अर्थ निकाला जा सके ऐसी सरल प्रश्न शैली में, आत्मा को स्पर्श करने वाले अनेक मुद्दों का क्रमबद्ध एवं सुसंगत निरूपण देखते हुए और उसके पूर्ववर्ती जैन जैनेतर आत्मविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रंथो के साथ तुलना करते हुए सहज

अनायास ही कहा जा रहा है कि प्रस्तुत ग्रंथ 'आत्मसिद्धि' यह सचमुच ही आत्मोपनिषद् है।

संस्कृत भाषा में प्राचीन उपनिषद् प्रसिद्ध हैं। उनमें केवल आत्मतत्त्व की ही चर्चा है। उसमें दूसरी जो चर्चा आती है वह उसे गरिमा प्रदान करने और आत्मतत्त्व का संपूर्ण ख्याल प्रस्तुत करने हेतु है। उनमें पुरुष, ब्रह्म, चेतन जैसे अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं, परंतु वे बोधक हैं आत्मतत्व के ही। उनकी शैली भले ही प्राचीन सांख्य-योग जैसी परम्परा का अनुगमन अनुसरण करती हो एवं उनकी भाषा भले ही संस्कृत हो, परंतु उन में निरूपण – प्रतिपादन तो आत्मलक्षी ही है। इसीलिये उन उपनिषदों में पुनः पुनः कहा गया है कि 'एकेन ज्ञातेन सर्वं ज्ञातं भवति'। एक आत्मा के जानने पर सब कुछ ही जाना जाता है क्योंकि वहाँ आत्मज्ञान का प्राधान्य है और उस आत्मविद्या को ही पराविद्या कहा गया है।

महावीर के विचारमंथन के परिणामस्वरूप जो प्राचीन उद्गार 'आचारांग' 'सूत्रकृतांग' जैसे आगमों में उपलब्ध होते हैं उनमें भी आत्मस्वरूप के ज्ञान और उसकी साधना को लक्ष्यकर ही मुख्य वक्तव्य है।

आगम का निरूपण संस्कृत भाषा में नहीं है एवं वे उपनिषदों से भिन्न शैली अपनाये हुए हैं। फिर भी वे हैं तो आत्मतत्त्व सम्बन्धित ही। उसी प्रकार बुद्ध के उद्गारों के संग्रहरूप माने जाने वाले प्राचीन पिटकों में भी आत्मस्वरूप और उसकी साधना की ही एक प्रकार से कथा है। भले वह आत्मा के नाम से और संस्कृत भाषा में न हो, भले उसकी शैली उपनिषदों एवं जैन आगमों से कुछ भिन्न पड़ती हो ; परंतु वह निरूपण अध्यात्मलक्षी ही है। भाषा भेद, शैलीभेद या ऊपर से दृष्टिगत आंशिक दृष्टिभेद यह स्थूल वस्तु है। मुख्य और सही वस्तु जो उन सब में सामान्य है वह तो है आध्यात्मिक दृष्टि से की गई साधना के परिणामों का निरूपण ! वैदिक, बौद्ध एवं जैन आदि सर्व संतों का अनुभव संक्षेप में यही है कि स्वविषयक अज्ञान (अविद्या) का निवारण करना और सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना।

सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के अनेक मार्ग खोजे गये और अपनाये गये। किसी ने एक पर तो किसी ने दूसरे पर थोड़ा अधिक बल दिया। इस कारण से कई बार पंथभेद जन्मे और उन पंथभेदों को संकीर्ण दृष्टि से पोषित किये जाने पर सँकरे घेरे भी बन गये। इतना ही नहीं, अनेक बार वे शाब्दिक अर्थ की खींचा तानी में पड़कर एक

दूसरे क खंडन में उतर गये और दृष्टि की विशालता एवं आत्मशुद्धि साधने का प्रधान उद्देश ही भूल गये। इस कारण से आध्यात्मिक साधना पर रचित परंपराएँ महद् अंशो मे एकदेशीय एवं दुराग्रही भी बनी हुई इतिहास में हम देखते हैं ।विशेष तो क्या, परंतु एक ही परंपरा में भी ऐसे भेद हो गये और वे परस्पर इस प्रकार बरतने और देखने लगे कि उन में भी अभिनिवेश और दुराग्रह ने ही प्रमुख स्थान धारण किया।

किसी भी समाज में पला हुआ व्यक्ति जब सच्चे अर्थ में आत्म जिज्ञासु बनता है, तब उसके लिए भी उस पथ और भेद के संकुचित बंधन और कुसंस्कार बड़े विघ्नरूप बन जाते हैं । परंतु सच्चा अध्यात्मजिज्ञासु उन सब विघ्नों से पर जाता है और अपना मार्ग अपने ही पुरुषार्थ से निष्कंटक बनाता है। ऐसे अध्यात्म वीर विरले जनमते हैं। श्रीमद् उन विरलों मे से एक आधुनिक महान विरल पुरुष है। उन्होंने जैन परंपरा के संस्कार विशेष प्रमाण में आत्मसात् किये । उन्होंने मूलभूत लेख गुजराती में ही और वह भी महदंश में जैन परिभाषा पर अवलंबित आश्रित होकर ही लिखे हैं। इसलिये उनकी पहचान गुजरात के बाहर अथवा जैनेतर क्षेत्र में अधिक विशेष रूप से नहीं है। परंतु इससे उनका आध्यात्मिक प्रतिभारूप और सत्यदृष्टि साधारण है ऐसा यदि कोई अनुमान करे, तो वह महती भ्रान्ति ही सिद्ध होगी। कोई समझदार व्यक्ति एक बार उनके लेखन को पढ़े तो उनके मन पर उनकी विवेक प्रज्ञा, मध्यस्थता और सहज सरलता का अमिट प्रभाव पड़े बिना कभी भी नहीं रह सकता ।

मैनें प्रथम भी अनेक बार आत्मसिद्धि का पठन और चिंतन-मनन किया था परंतु अभी अभी यह लिखता हूँ तब विशेष स्थिरता और विशेष तटस्थता से उसे पढ़ा, उसका अर्थचिंतन किया, उसके वक्तव्य का यथाशक्ति मनन और पृथक्करण किया । तब मुझे प्रतीत हुआ कि यह 'आत्मसिद्धि' एक ही ग्रंथ ऐसा है कि जिसमें श्रीमद् राजचंद्र के चिंतन और साधना का गहन से गहन सर्व रहस्य समा जाता है।

जिस आयु में और जितने अल्प समय में श्री राजचंद्र ने 'आत्मसिद्धि' में स्वयं आत्मसात् किया हुआ ज्ञान संजोया है उसे सोचता हूँ तब मेरा मस्तक भक्तिभाव से झुक पड़ता है । उतना ही नहीं, परन्तु मुझे प्रतीत होता है कि उन्होंने आध्यात्मिक मुमुक्षु को दिया हुआ उपहार यह तो शत शत विद्वानों ने प्रदान किये हुए साहित्यिक

ग्रंथराशि के उपहार से विशेष मूल्यवान है। अपन अपने पक्ष की और मंतव्य की सिद्धि के हेतु अनेक सिद्धिग्रंथ शताधिक वर्षोंसे रचित होते आये हैं। 'सर्वार्थसिद्धि' केवल जैन आचार्य ने ही नहीं, परंतु जैनेतर आचार्यों ने भी अपने अपने संप्रदाय पर लिखी है। 'बाह्यसिद्धि', 'अद्वैतसिद्धि'आदि वेदांत विषयक ग्रंथ सुविदित हैं। 'नैष्कर्म्य सिद्धि', 'ईश्वरसिद्धि' ये भी प्रसिद्ध हैं। 'सर्वज्ञसिद्धि' जैन, बौद्ध आदि अनेक परंपराओं में लिखी गई है। अकलंक के 'सिद्धि विनिश्चय' के उपरांत आचार्य शिवस्वामी रचित 'सिद्धि विनिश्चय' के अस्तित्त्व का प्रमाण अभी प्राप्त हुआ है। ऐसे विनिश्चय ग्रंथों में अपने अपने अभिप्रेत हों ऐसे अनेक विषयों की सिद्धि कही गई है। परंतु सारी सिद्धियों के साथ जब श्री राजचन्द्र की 'आत्मसिद्धि' की तुलना करता हूँ तब सिद्धि शब्दरूप समानता होते हुए भी उसके प्रेरक दृष्टिबिन्दु में महती दूरी दिखाई देती है। उन उन सभी दर्शनों की ऊपर सूचित एवं अन्य सिद्धियाँ किसी विषय की केवल तर्क (दलील) द्वारा उपपत्ति करतीं हैं और विरोधी मंतव्य का तर्क अथवा युक्ति से निराकरण करतीं हैं। वस्तुतः ऐसी दार्शनिक सिद्धियाँ प्रधानतः तर्क और युक्ति के बल पर रची गईं हैं, परन्तु उनके पीछे आत्मसाधना अथवा आध्यात्मिक परिणति का समर्थ बल शायद ही दिखाई देता है! जब कि प्रस्तुत आत्मसिद्धि की गरिमा ही भिन्न है। उसमें श्री राजचंद्र ने जो निरूपण किया है वह उनके जीवन की गहराई में से अनुभव पूर्वक निष्पन्न होने के कारण वह केवल तार्किक उपपत्ति नहीं है, परंतु आत्मानुभव की (बनी) हुई सिद्धि - प्रतीति है, ऐसा मुझे स्पष्ट दिखता है। इसी लिये तो उनके निरूपण में एक भी वचन कटु, आवेशपूर्ण, पक्षपाती अथवा विवेकविहीन नहीं है। जीवसिद्धि तो श्रीमद् पूर्व कितने ही आचार्यो ने की हुई और लिखी हुई है, परंतु उनमें प्रस्तुत 'आत्मसिद्धि' में है ऐसा बल शायद ही प्रतीत होता है। निस्संदेह उनमें युक्ति एवं दलीलें ढेरों हैं।

श्री राजचंद्र ने 'आत्मसिद्धि' में मुख्यतः आत्मा से सम्बन्धित छह मुद्दों की चर्चा की है (१) आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व; (२) उसका नित्यत्व - पुनर्जन्म; (३) कर्मकर्तृत्व, और (४) कर्मफल भोक्तृत्व; (५) मोक्ष और (६) उसका उपाय। इन छह मुद्दों की चर्चा करते हुए उनके प्रतिपक्षी छह मुद्दों पर भी चर्चा करनी ही पड़ी है। इस प्रकार उसमें बारह मुद्दे चर्चित हुए हैं। उस चर्चा की भूमिका उन्होंने इतनी अधिक सबल ढंग से और संगत रीति से बांधी है और उसका उपसंहार इतने

सहजरूप से एवं नम्ररूप से फिर भी निश्चित वाणी से किया है, कि वह एक सुसंगत शास्त्र बना रहता है। उसकी शैली संवाद की है। शिष्य की शंका या प्रश्न और गुरुने किया समाधान। इस संवादशैली के कारण से वह ग्रंथ भारी भरकम और जटिल नहीं बनते हुए, विषय गहन होने पर भी सुबोध और रुचिपोषक बन गया है ।

आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन और प्रवचनसार, समयसार जैसे प्राकृत ग्रंथों मे जो विचार भिन्न भिन्न रूप से बिखरा हुआ दीखता है गणधरवाद में जो विचार तर्कशैली से स्थापित हुआ है और आचार्य हरिभद्र अथवा यशोविजयजी जैसे आचार्यों ने अपने अपने अध्यात्म विषयक ग्रंथो में जो विचार अधिक पुष्ट किया है, वह समग्र विचार प्रस्तुत 'आत्मसिद्धि' में इतने सहज भाव से गुम्फित हो गया है कि उसे पढ़नेवाले को पूर्वाचार्यो के ग्रंथो का परिशीलन करने में एक कुंजी मिल जाती है । शंकराचार्य ने अथवा उसके पूर्व क़े वात्स्यायन, प्रशस्तपाद व्यास आदि भाष्यकारों ने आत्मा के अस्तित्व के बारे में जो मुख्य दलीलें दी हैं वे प्रस्तुत 'आत्मसिद्धि' में आती हैं । परंतु चिंतन करते हुए मुझे यह दृष्टिगत होता है कि **प्रस्तुत रचना श्री राजचन्द्र ने केवल शास्त्र पढ़कर की नहीं है, परन्तु उन्होंने सच्चे एवं उत्कट मुमुक्षु के रूप में आत्मस्वरूप की स्पष्ट और गहरी प्रतीति हेतु जो मंथन किया, जो साधना की और जो तप आचरित किया उसके परिणाम स्वरूप संप्राप्त अनुभव प्रतीति ही इस में प्रधान रूप से प्रतिपादित हुई है।** एक मुद्दे में से दूसरा, दूसरे में से तीसरा इस प्रकार उत्तरोत्तर ऐसी सुसंगत संकलना हुई है कि उसमें कुछ भी निकम्मा नहीं आता, काम का रह नहीं जाता और कहीं भी पथच्युति नहीं होती। इसीलिये श्रीमद् राजचंद्र की 'आत्मसिद्धि' यह एक सिद्धांत शास्त्र बना रहता है ।

भारतीय तत्त्वज्ञों - दार्शनिकों एवं संतों की आत्मा के स्वरूप विषयक दृष्टि मुख्यरूप से तीन विभागों में विभाजित हो जाती है: (१) देहभेद से आत्मभेद और वह वास्तविक ही; (२) तात्त्विक रीति से आत्मतत्त्व एक ही और वह अखंड फिर भी दृष्ट जीवभेद यह केवल अज्ञानमूलक; (३) जीवभेद वास्तविक परंतु वे एक ही परमात्मा के अंश। इस प्रकार दृष्टियाँ तीन प्रकार की होते हुए भी सर्व दृष्टि का पारमार्थिक आचार एक ही है। वास्तविक जीवभेद माननेवाला प्रत्येक दर्शन जीव का तात्त्विक स्वरूप तो समान ही मानता है और उस आधार से वे दूसरे छोटे - बड़े सारे प्राणियों के प्रति आत्मौपम्यमूलक आचार आयोजित करते हैं और दूसरों की

ओर से अपने प्रति जिस वर्तन - व्यवहार की अपेक्षा रखी जाय वैसा ही वर्तन दूसरों के प्रति रखने पर जोर देकर समग्र आचार - व्यवहार आयोजित करते हैं। जो आत्मा के वास्तविक अभेद अथवा ब्रह्मैक्य में मानते हैं वे भी दूसरे जीवों में अपना ही असली रूप मानकर अभेदमूलक आचार - व्यवहार आयोजित कर कहते हैं कि, अन्य जीव के प्रति विचार में या वर्तन में भेद रखना यह आत्मद्रोह है, और ऐसा कहकर समान आचार - व्यवहार की ही हिमायत करते हैं । तीसरी दृष्टिवाले भी उपर्युक्त रीति से ही तात्त्विक आचार - व्यवहार की हिमायत करते हैं । इस प्रकार देखें तो आत्मवादी कोई भी दर्शन हो तो भी उसकी पारमार्थिक अथवा मूलगामी आचार - व्यवहार की हिमायत एक ही प्रकार की है। इसलिये ही जैन, बौद्ध, वेदान्त या वैष्णव आदि सारे ही दर्शनों में सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह आदि तात्त्विक आचार में कोई भी भेद दिखाई नहीं देता। बेशक, बाह्य और सामाजिक आचार - व्यवहार, जो मुख्यरूप से रुढ़ियाँ और देशकाल का अनुसरण कर सृजित (निर्मित) या परिवर्तित होता है उसमें, परंपराभेद तो है ही, और वह मानव स्वभाव के अनुसार अनिवार्य है। परंतु जो आत्मस्पर्शी मूलगामी वर्तन के सिद्धान्त हैं, उनमें किसीका मतभेद नहीं है। प्रत्येक दर्शन अपनी मान्यता के अनुसार के आत्मज्ञान पर ज़ोर देकर तद् विषयक अज्ञान अथवा अविद्या निवारण करने को कहते हैं और आत्मज्ञान भली भाँति प्रकट हुए बिना या पाचन हुए बिना विषमतामूलक वर्तन बंध होनेवाला नहीं है और ऐसा वर्तन जब तक बंध नहीं होता तब तक पुनर्जन्म का चक्र भी बंध होनेवाला नहीं है ऐसा कहते हैं । इस लिए ही हम किसी भी परंपरा के सच्चे संत और साधक की चिन्तना अथवा वाणी को जाँचेंगे किंवा उनका जीवन-व्यवहार देखेंगे तो बाह्य रीति नीति में भेद होते हुए भी उनकी प्रेरक आंतर भावना में कोई भी भेदभाव नहीं देख पायेंगे ।

अब हम संक्षेप में 'आत्मसिद्धि' के विषयों का परिचय करें:

प्रथम दोहे में श्री राजचंद्र ने सूचित किया है कि आत्मतत्त्व का अज्ञान ही संसारिक दुःख का कारण है औरं उसका ज्ञान यह दुःखनिवृत्ति का उपाय है। उनका यह विधान जैन परंपरा का तो अनुसरण करता ही है, परंतु वह अन्य सारी ही आत्मवादी परंपराओं को भी मान्य है । उपनिषदों की भाँति सांख्य योग, न्याय - वैशेषिक और बौद्ध दृष्टि भी देह, इन्द्रिय, प्राण आदि से आत्मतत्त्व को अपनी अपनी रीति से भिन्न स्थापित करके उसके ज्ञान को, कहें कि 'भेदज्ञान' को या

'विवेकख्याति' को सम्यक् ज्ञान मानती है और उसके ही आधार पर पुनर्जन्म के चक्र को मिटाने भिन्न भिन्न प्रणालियाँ आयोजित करती है।

श्रीमद् राजचंद्र ने दूसरे दोहे में आत्मार्थी मुमुक्षु के लिये मोक्ष का मार्ग स्पष्ट रूप से निरूपित करने की प्रतिज्ञा की है।

मनुष्य स्थूल वस्तु को पकड़कर बैठता है और गहराई में उतरता नहीं है। इतना ही नहीं, परंतु गहराई में रहे हुए सूक्ष्म और सच्चे तत्त्व को स्थूल में ही मान बैठता है। यह दोष सभी पंथों में सामान्य रूप से दिखाई देता है। इसीलिये ही लौकिक और अलौकिक अथवा संवृत्ति-मायिक और परमार्थ ऐसी दो मानसिक भूमिकाएँ सर्वत्र प्रतिपादित हुई हैं। इनमें से लौकिक अथवा अपारमार्थिक भूमिकावाले कुछ लोग ऐसे होते हैं जो, 'क्रियाजड़' बन बैठते हैं और कुछ 'शूष्कज्ञानी' हो जाते हैं। वे दोनों अपने आप को मोक्ष का उपाय प्राप्त हो गया हो इस प्रकार बरतते और बोलते हैं। श्रीमद् इन दोनों वर्ग के लोगों को उद्देश कर मोक्षमार्ग का सच्चा स्वरूप दर्शाते हुए क्रियाजड़ और शूष्कज्ञानी का लक्षण निरूपित करते हैं और साथ ही त्याग-वैराग्य एवं आत्मज्ञान दोनों का परस्पर पोष्यपोषकभाव दर्शाकर आत्मार्थी की परिभाषा स्पष्ट करते हैं। उन्होंने आत्मार्थी की जो परिभाषा की है वह एक प्रकार से ऐसी सरल और दूसरे प्रकार से ऐसी गंभीर है कि वह व्यावहारिक दुन्यवी जीवन और पारमार्थिक सत्य धार्मिक जीवन दोनों में एक समान लागु होती है।

उसके पश्चात् उन्होंने सद्गुरु के लक्षण कहे हैं। ये लक्षण ऐसी दृष्टि से निरूपित हुए हैं, कि उनमें आत्मविकास की गुणस्थान क्रम के अनुसार भूमिकाएं आ जाये और जो भूमिकाएँ योग, बौद्ध एवं वेदान्त दर्शन की परिभाषा में भी दर्शित की जा सके। श्री राजचंद्र ने गुरुपद उपयोग में नहीं लेते हुए सद्गुरुपद योजित किया है, जो आध्यात्मिक जागृति का सूचक है। श्री अरविंद ने भी सद्गुरु-शरणागति पर विशेष बल दिया है – देखें 'The Synthesis of Yoga'। श्री किशोर लालभाई ने मुमुक्षु की विवेकदृष्टि और परीक्षक बुद्धि पर बल डालते हुए भी यथायोग्य सद्गुरु से होने वाले लाभ की पूरी कद्र की ही है। आखिर तो मुमुक्षु की जागृति यही मुख्य वस्तु है उसके बिना सद् गुरु की पहचान मुश्किल है और पहचान हो तो टिकनी भी कठिन है। जैन परंपरा के अनुसार छठवें और तेरहवें गुणस्थानक पर उपदेशकपन संभवित

होता है। सातवें से बारहवें गुणस्थानों की भूमिका यह तो उत्कट साधक दशा की ऐसी भूमिका है कि वह सागर में गोता लगाकर मोती लाने जैसी स्थिति है। इस विषय में श्रीमद् राजचंद्र ने स्वयं ही स्पष्ट विवेचन किया है अतः वह मनन करने योग्य है।

जहाँ सद्गुरु का योग न हो वहाँ भी आत्मा का अस्तित्व दर्शानेवाले शास्त्र मुमुक्षु को उपकारक बनते हैं। शास्त्रों के बिना भी सद्गुरु ने दिया हुआ उपदेश तक मुमुक्षु को बलप्रदान करता है। परंतु श्रीमद् सद्गुरु के योग पर बड़ा बल देते हैं वह सहैतुक है । मनुष्य में पोषित हुए कुलधर्माभिनिवेश, मन की चालवाली निजमति - कल्पनानुसार जैसे चाहे वैसे बरतने की आदत, चिरकालीन मोह और अविवेकी संस्कार ये सब स्वच्छन्द हैं। स्वच्छन्द को रोके बिना, आत्मज्ञान की दिशा प्रकट नहीं होती और सद्गुरु के - अनुभवी दिशा दर्शक के - योग के बिना स्वच्छन्द रोकने का काम अति कठिन है, सीधी ऊंची पर्वत-चढ़ाई पर चढ़ने जैसा है।

सच्चा साधक चाहे जितना विकास होने पर भी सद्गुरु के प्रति अपना सहज विनय गौण कर नहीं सकता और सद्गुरु हो वह ऐसे विनय का दुरुपयोग भी नहीं ही करेगा। जो शिष्य की भक्ति और विनय का दुरुपयोग करता है अथवा अनुचित लाभ उठाता है, वह सद्गुरु ही नहीं है। ऐसे ही असद्गुरु अथवा कुगुरु को लक्ष्य में रखकर श्री. किशोरलालभाई की टीका है ।

मुमुक्षु और मतार्थी के बीच का भेद श्री राजचंद्र ने दर्शाया है उसका सार - निष्कर्ष यह है कि सुलझी हुई - सुल्टी - मति वह मुमुक्षु और उल्टी मति वह मतार्थी। ऐसे मतार्थी के अनेक लक्षण उन्होंने स्फुट, कुछ विस्तार से दर्शाये हैं जो बिलकुल सर्वथा अनुभवसिद्ध हैं और किसी भी पंथ में मिल आते हैं। उनकी एक दो विशेषता की ओर इस स्थल पर ध्यान आकृष्ट करना इष्ट है। प्रसिद्ध आचार्य समन्तभद्र ने 'आप्तमीमांसा' की देवागम - नभोयान आदि कारिकाओं में बाह्य विभूतिओं में वीतरागपद देखने की बिलकुल ना कही है। श्रीमद् भी यही वस्तु सूचित करते हैं। योगशास्त्र के विभूतिपाद में, बौद्ध ग्रंथों में और जैन परंपरा में भी विभूति, अभिज्ञा - चमत्कार अथवा सिद्धि और लब्धि मे नहीं फँसने की बात कही है वह सहजरूप से ही श्री राजचंद्र के ध्यान में है। उन्होंने यह देखा था कि जीव की गति-अगति, सुगति-कुगति के प्रकार कर्मभेद के भांगे इत्यादि शास्त्र में वर्णित

विषयों मे ही शास्त्ररसिक जन डूबे रहते हैं और तोतेरट–पोपटपाठ – से आगे नहीं बढ़ते हैं। उन्हें उद्देशित कर उन्होंने सूचित किया है कि शास्त्र के वे वर्णन उसका अंतिम तात्पर्य नहीं है और अंतिम तात्पर्य पाये बिना ऐसे शास्त्रों का पाठ केवल मतार्थिता का पोषण करता है। श्रीमद् राजचंद्र का यह कथन जितना अनुभवमूलक है उतना ही सभी परंपराओं को एक समान लागु होता है।

मतार्थी के स्वरूपकथन के बाद आत्मार्थी का संक्षिप्त फिर भी मार्मिक स्वरूप आलेखित किया गया है । मति सुल्टी – सुलझी हुई – होते होते ही – आत्मार्थ दशा प्रारम्भ होती है और सुचिंतना जन्म लेती है । उसी के ही कारण से निश्चय और व्यवहार का अंतर और उसका संबंध यथार्थ रूप में समझ में आता है । और कौन सा सद्व्यवहार और कौन सा नहीं यह भी समझा जाता है। ऐसी सुचिंतना के परिणामस्वरूप अथवा उसकी पुष्टि हेतु श्री राजचंद्र ने आत्मा से संबंधित छह पदों के विषय में अनुभवसिद्ध वाणी में शास्त्रीय वर्णन किया है जो सिद्धसेन ने 'सन्मतितर्क' में और हरिभद्र ने 'शास्त्रवार्ता समुच्चय' आदि में भी किया है।

१. आत्मा का अस्तित्व दर्शाते हुए श्री राजचंद्र ने जिस देहात्मवादी की प्रचलित और बालसुलभ दलीलों का निरसन किया है वह एक ओर से चार्वाक मान्यता का नक्शा प्रस्तुत करता है और दूसरी ओर से आत्मवाद की भूमिका प्रस्तुत करता है। वैसे तो अनेक आत्मस्थापक ग्रंथो में चार्वाक मत का निरसन आता है। परंतु श्री राजचंद्र की विशेषता मुझे यह दिखाई देती है कि उनका कथन शास्त्रीय अभ्यास मूलक केवल ऊपरी दलीलों में से जन्म नहीं लेते हुए सीधा अनुभव में से आया हुआ है। इसीलिये ही उनकी कुछ दलीलें दिल की गहराई मे पैठ जायँ ऐसी हैं।

२. आत्मा अर्थात् चैतन्य देह के साथ ही नहीं उत्पन्न होता और देह के विलय के साथ विलय नहीं पाता यह बात समझ में आ सके ऐसी वाणी और युक्तिओं से दर्शाकर आत्मा का नित्यत्व – पुनर्जन्म स्थापित किया है। दृष्टिभेद से आत्मा भिन्न भिन्न अवस्थाएँ धारण करते हुए किस प्रकार स्थिर है और पुनर्जन्म के संस्कार किस प्रकार कार्य करते हैं यह दर्शाते हुए उन्होंने सिद्धसेन के 'सन्मति तर्क' की दलील भी प्रयुक्त की है कि बाल्य, यौवन आदि भिन्न भिन्न अवस्थाएँ होते हुए भी मनुष्य अपने आप को निरंतर सूत्र रूप में देखता है। केवल क्षणिकत्व नहीं है यह दर्शाने के लिये

उन्होंने कहा है कि ज्ञान तो भिन्न भिन्न और क्षणिक है। परंतु उन सभी प्रकार के ज्ञान के क्षणिकत्व का जो भान (प्रतीति) करता है वह स्वयं क्षणिक हो तो सभी प्रकार के ज्ञान में अपनी समरसता - तद्रूपता कैसे जान सकेगा? उनकी यह दलील गंभीर है।

३. निरीश्वर अथवा सेश्वर सांख्य जैसी परंपराएँ चेतन में वास्तविक बंध नहीं मानती हैं। वे चेतन को वास्तविक रीति से असंग मानकर उसमें कर्मकर्तृत्वपन या तो प्रकृति-प्रेरित या ईश्वर-प्रेरित आरोपण से मानतीं हैं। यह मान्यता यदि सही हो तो मोक्ष का उपाय भी निकम्मा - निरर्थक सिद्ध होगा ! इसलिये श्रीमद् आत्मा का कर्मकर्तृत्वपन अपेक्षाभेद से वास्तविक है ऐसा दर्शाते हैं। राग - द्वेषादि परिणति के समय आत्मा कर्म की कर्त्ता है और शुद्ध स्वरूप से प्रवर्तन करे तब कर्म की कर्त्ता नहीं है। उल्टा उसे स्वरूप का कर्त्ता कहा जा सकता है - इस जैन मान्यता को स्थापित करते हैं।

४. कर्म का कर्तृत्व हो तो भी जीव उसका भोक्ता नहीं बन सकता - यह मुद्दा उठाकर श्री राजचंद्र ने भावकर्म - परिणामरूप कर्म और द्रव्यकर्म - पौद्गलिककर्म दोनों का कार्यकारणभाव दर्शाकर कर्म ईश्वर की प्रेरणा के सिवा भी किस प्रकार फल देता है यह बतलाने के लिए एक सुपरिचित दृष्टांत दिया है कि विष और अमृत यथार्थ समझे बिना भी खाने में आये हो तो जैसे उनका अलग अलग फल समय के पकने पर मिलता है, वैसे बद्ध कर्म भी योग्य काल - योग्य समय - पर स्वयमेव विपाक देता है। कर्मशास्त्र की गहनता संपूर्णरूप से श्रीमद् राजचंद्र के ध्यान में है। इसीलिये ही वे स्पष्ट करते हैं कि यह बात संक्षेप में कही है।

५. मोक्ष का अस्तित्व सिद्ध करने वे एक नितान्त छोटी परंतु समर्थ दलील यह प्रस्तुत करते हैं कि यदि शुभाशुभ प्रवृत्ति का फल कर्म हो तो ऐसी प्रवृत्ति में से निवृत्ति यह क्या निष्फल? निवृत्ति तो प्रयत्न से साधी जाती है। इसलिये उसका फल प्रवृत्ति के फल से बिलकुल अलग ही संभव होता है। वह फल यही है मोक्ष !

६. मोक्ष के उपाय विषयक शंका उठाकर उसका समाधान करते हुए उपाय - निरुपण किया है। और उसमें समग्र गुणस्थान क्रम की - आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के क्रम की मुख्य मुख्य कुंजियाँ अनुभव के जरिये ही प्रस्तुत की हो ऐसा स्पष्ट भास होता है। उन्होंने केवलज्ञान की निर्विवाद और सहज ऐसी व्याख्या की है कि वह सांप्रदायिक लोगों को खास ध्यान देने योग्य है। उनके इस प्रतिपादन में उपनिषदों के

'तत्त्वमसि' वाक्य का तात्पर्य समाविष्ट हो जाता है और सच्चिदानंद ब्रह्मस्वरूप का प्रतिपादन भी हो जाता है। श्रीमद् अनुभवपूर्वक उद्घोष करते हैं कि सारे ही - ज्ञानियों का निश्चय एक है। उसमें पंथ, जाति, मत, वेश आदि को कोई भी स्थान नहीं है। इस प्रकार छह अथवा बारह मुद्दों के निरूपण का उपसंहार उन्होंने जिस उल्लास और जिस तटस्थता से किया है वह हम पर उनके उस अनुभव का प्रभाव छोड़ जाता है ।

बाद में श्री राजचंद्र ने शिष्य को हुए बोधबीज प्राप्ति का वर्णन किया है। उस में शिष्य के मुख से अहोभाव के उद्गार उद्धृत कर जो समर्पण भाव वर्णित किया है वह जैसे कवित्व की कला सूचित करता है वैसे तात्त्विक सिद्धि का परम आनंद भी सूचित करता है, जिसे पढ़ते हुए मन कोमल हो जाता है और उस अहोभाव का अनुभव प्राप्त करने की ऊर्मि भी रोके रोकी नहीं जा सकती । आख़िर सारा उपसंहार भी मननीय है ।

'आत्मसिद्धि' को जिज्ञासु स्वयं ही पढ़े और उसका रसानुभव करे इस दृष्टि से उसका परिचय यहाँ मैने बिलकुल स्थूल रूप से करवाया है । उस में निहित दलीलों की पुनरुक्ति करना निरर्थक है।

श्री राजचंद्र ने 'आत्मसिद्धि' में जैन परिभाषा का आश्रय कर जो वस्तु प्रतिपादित की है वह जैनेतर दर्शनो में भी किस किस प्रकार से निरूपित हुई है उसका थोड़ा ख्याल पाठक को देना आवश्यक है, जिससे तत्त्वजिज्ञासु इतना आसानी से समझ सकेगा कि सर्व आत्मवादी दर्शन भिन्न भिन्न परिभाषा के द्वारा भी किस प्रकार एक ही गीत गा रहे हैं। जैनदर्शन जीव या आत्मा को जड़ से भिन्न जो तत्त्व प्रतिपादित करता है, उसे न्याय-वैशेषिक दर्शन जीवात्मा या आत्मा कहता है और सांख्य-योग उसे प्रकृति से भिन्न पुरुष कहता है, जब कि वेदान्ती उसे मायाभिन्न ब्रह्म भी कहता है। 'धम्मपद' जैसे बौद्ध ग्रंथों में आत्मा - अत्ता और पुग्गल पद है, परंतु आगे चलते हुए उसका निरूपण रूपभिन्न चित्त या नाम पद से भी हुआ है।

जैनदर्शन मिथ्यादर्शन - अज्ञान और कषाय - रागद्वेष के नाम से आस्रव रूप जो बंध अर्थात् संसार के कारण का निरूपण करता है और उसके विपाक रूप जो बंध संसार के सुख-दुःख के घटनाचक्र और पुनर्जन्म के चक्र का निरूपण करता है,

उस वस्तु को न्याय-वैशेषिक सम्मत परिभाषा में न्यायाचार्य अक्षपाद ने भी स्पष्ट रूप से वर्णित की है। वह अपने सूत्र में संक्षेप से कहते हैं कि मिथ्यादर्शन - अज्ञान से दोष - रागद्वेष जन्म लेते हैं और रागद्वेष से मानसिक - वाचिक - कायिक व्यापार (जैन परिभाषा अनुसार 'योग') चलता है जिसके कारण से पुनर्जन्म और सुखदुःख का चक्र प्रवर्तित है जो जैन परिभाषा अनुसार 'बंध' कोटि में पड़ता है। सांख्य योग दर्शन उसी वस्तु को अपनी परिभाषा में रखते हुए कहता है कि अविवेक से - अज्ञान या मिथ्यादर्शन से राग-द्वेषादि क्लेश के द्वारा दुःख और पुनर्जन्म की परंपरा प्रवर्तित होती है। वेदान्त दर्शन भी यही वस्तु अविद्या और माया से अथवा अध्यास से वर्णित करता है। बौद्ध दर्शन में जो अविद्या संस्कार आदि बारह कड़ियों की श्रृंखला है, जो प्रतीत्य समुत्पाद के नाम से प्रसिद्ध है, वह जैनदर्शन सम्मत आस्रव बन्ध और न्याय-वैशेषिक सम्मत मिथ्यादर्शन, दोष आदि पांच कड़ियों की श्रृंखला और सांख्य-योग सम्मत अविवेक और संसार उसका ही विशेषरूप से विस्तार है।

जैन दर्शन के अनुसार जो संवर मोक्ष के उपाय के रूप में वर्णित है और उसके फलस्वरूप जो मोक्ष तत्त्व का निरूपण है उसे ही न्याय-वैशेषिक अनुक्रम से सम्यग्ज्ञान - तत्त्वज्ञान और अपवर्ग के नाम से वर्णित करता है, जब कि बौद्धदर्शन निर्वाणगामिनी प्रतिपदा-मार्ग के नाम से और निर्वाण के नाम से वर्णित करता है। बौद्ध दर्शन में अन्य दर्शनों की भाँति आत्मा, चेतन, ब्रह्म या पुरुष नाम से आत्मस्वरूप का जितना चाहिये उतना वर्णन नहीं है इसलिये बहुत से लोग उसे अनात्मवादी मान बैठते हैं, परन्तु वह भूल है। अनात्मवादी हो वह पुनर्जन्म या परलोक को न माने, जब कि बुद्ध ने पुनर्जन्म और उसके कारण एवं कर्म की निवृत्ति और निर्वाण पर खास बल देकर चार आर्यसत्यों को अपनी विशिष्ट खोज बतलाया है: (१) दुःख; (२) उसका कारण तृष्णा; (३) निर्वाण; और उसका उपाय अष्टांगिक मार्ग - यही चार आर्यसत्य जैन परिभाषा में अनुक्रम से आस्रव, बंध, संवर एवं मोक्ष हैं, जब कि न्याय-वैशेषिक परिभाषा में अज्ञान, संसार, तत्त्वज्ञान और अपवर्ग है, एवं सांख्य-योग परिभाषा में अविवेक, संसार, विवेक और मोक्ष है। इस प्रकार तुलना करते हुए सारे ही ब्राह्मण श्रमण दर्शन मुख्य वस्तु में एक मत हो जाने से श्रीमद् राजचंद्र ने कहा है कि -

निश्चय सर्वे ज्ञानीनो, आवी अत्र शमाय;
धरी मौनता एम कही, सहज समाधि मांय । ११८ ।।

(निश्चय ज्ञानी सर्व का, यहाँ एक हो जाहि ।
कथके यों धरि मौनता, सहज समाधि मांहि ।। ११८ ।।)

प्रत्येक धर्म और दर्शन का अध्येता 'आत्मसिद्धि' को उदार दृष्टि से एवं तुलना दृष्टि से समझेगा तो उसमें से उसे धर्म का मर्म अवश्य हाथ लगेगा। वास्तव में प्रस्तुत ग्रंथ धर्म और दर्शन के अभ्यासक्रम में स्थान पा सके ऐसा है। केवल उसे समझनेवाले और समझानेवाले का योग आवश्यक है।

श्री मुकुलभाई, एम्.ए., गुजरात विद्यापीठ में गुजराती के अध्यापक हैं। प्रस्तुत ग्रंथ तैयार करने की उनकी इच्छा को जाना तब मैने उसका स्वीकार कर लिया। उन्होंने सारा ग्रंथ विवेचन सहित मुझे पढ़कर सुनाया। वह सुनते ही मेरा प्रथम का आदर अनेक गुना बढ गया और परिणाम में कुछ लिखने की स्फुरणा भी हुई। मैं कोई अध्यात्मानुभवी नहीं हूँ। फिर भी मेरा शास्त्ररस तो है ही । केवल उस रस से और यथा संभव तटस्थता से प्रेरित होकर मैंने कुछ संक्षिप्त फिर भी धारणा से विस्तृत लिखा है। अगर वह उपयोगी न भी बने तो भी यह श्रम मेरी दृष्टि से व्यर्थ नहीं है। यह अवसर देने के लिये मैं श्री मुकुलभाई का आभार मानता हूँ । जैन कुल नहीं फिर भी श्रीमद् राजचंद्र के साहित्य को पढ़कर समझकर तैयार होने और 'आत्मसिद्धि' का संस्करण तैयार करने के लिये उनका आभार मानना चाहिये। (श्रीमद् राजचन्द्र के 'आत्मसिद्धिशास्त्र': गुजरात विद्यापीठ का पुरोवचन) ।

– सुखलाल ।

सरितकुंज, एलिसब्रीज, अहमदाबाद
दि. २२ नवम्बर, १९५३

।। ॐ शान्तिः ।।

लेखांक ३

सप्तभंगी

(एम्. ए. के परीक्षार्थी एक दक्षिण के विद्वान महाशय ने सप्तभंगी अर्थात् क्या? उसका दिग्दर्शन कराने की प्रार्थना करने पर पंडित सुखलालजी ने सार रूप में – मुद्दों के रूप में जो बताया था उसे यहाँ दिया गया है ।)

१. भंग अर्थात् वस्तु का स्वरूप दर्शाने वाले विचार के प्रकार अर्थात् वाक्यरचना।

२. वे सात कहे जाते हैं, फिर भी मूल तो तीन ही हैं। शेष चार उन तीन मूल भंगों के पारस्परिक विविध संयोजन से होते हैं।

३. किसी भी एक वस्तु के विषय में या एक ही धर्म के सम्बन्ध में भिन्न भिन्न विचारकों की मान्यता में भेद दिखाई देता है। यह भेद विरोध रूप है या नहीं और यदि नहीं हो तो दिखाई दे रहे विरोध में अविरोध किस प्रकार... ? अथवा यों कहो कि अमुक विवक्षित वस्तु के सम्बन्ध में जब धर्म विषयक दृष्टिभेद दीखते हों तब ऐसे भेदों का प्रमाणपूर्वक समन्वय करना, और वैसा करके सर्व सत्य दृष्टियों को उसके योग्य स्थान में रखकर न्याय देना उस भावना में सप्तभंगी का मूल है।

उदाहरणार्थ एक आत्मद्रव्य के विषय में उसके नित्यत्व के बारे में दृष्टिभेद है। कोई आत्मा को नित्य मानता है, तो कोई नित्य मानने से इन्कार करता है। कोई फिर ऐसा कहता है कि वह तत्त्व ही वचन अगोचर है । इस प्रकार आत्मतत्त्व के बारे में तीन पक्ष प्रसिद्ध हैं। इससे सोचना यह प्राप्त होता है कि क्या वह नित्य ही है –और अनित्यत्व उसमें प्रमाणबाधित है? अथवा क्या वह अनित्य ही है और नित्यत्व

उसमें प्रमाणबाधित है? अथवा उसे नित्य या अनित्यरूप से नहीं कहते हुए अवक्तव्य ही कहना यह योग्य है? इन तीन विकल्पों की परीक्षा करते हुए तीनों सच्चे हों तो उनका विरोध दूर करना ही चाहिये। जब तक विरोध खड़ा रहे तब तक परस्पर विरुद्ध अनेक धर्म एक वस्तु में है ऐसा कहा ही नहीं जा सकता। इसलिये विरोध परिहार की ओर ही सप्तभंगी की दृष्टि प्रथम जाती है। वह निश्चित करती है कि आत्मा नित्य है, परंतु सर्व दृष्टि से नहीं, केवल मूल तत्त्व की दृष्टि से वह नित्य है, क्योंकि कभी भी वह तत्त्व नहीं था और बाद में उत्पन्न हुआ ऐसा नहीं है, और कभी वह तत्त्व मूलमें से ही नष्ट होगा ऐसा भी नहीं है । इसलिये तत्त्वरूप से वह अनादिनिधन है और वही उसका नित्यत्व है। ऐसा होने पर भी वह अनित्य भी है, परंतु उसका अनित्यत्व तत्त्वदृष्टि से नहीं होते हुए केवल अवस्था की दष्टि से है। अवस्थाएँ तो प्रति समय निमित्तानुसार बदलती ही रहती हैं। जिसमें कुछ न कुछ रूपांतर नहीं होता है, जिसमें आंतरिक अथवा बाह्य निमित्तानुसार सूक्ष्म या स्थूल अवस्थाभेद सतत चालू न हो ऐसे तत्त्व की कल्पना ही नहीं हो सकती है। इसलिये अवस्थाभेद मानना पड़ता है और वही अनित्यत्व है। इस प्रकार आत्मा तत्त्वरूप से (सामान्यरूप से) नित्य फिर भी, अवस्थारूप से (विशेषरूप से) अनित्य भी है। नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों एक ही स्वरूप में एक ही वस्तु में मानते हुए विरोध आता है; जैसे कि तत्त्वरूप से ही आत्मा नित्य है ऐसा माननेवाला उसी रूप से अनित्य भी माने तो । उसी प्रकार आत्मा नित्य अनित्य आदि शब्द द्वारा उस उस रूप में प्रतिपाद्य फिर भी समग्र रूप में किसी भी एक शब्द से कहा नहीं जा सकता; इसलिये वह असमग्ररूप से शब्द का विषय बनता है; फिर भी समग्ररूप से ऐसे किसी शब्द का विषय बन नहीं सकता, अतः अवक्तव्य भी है। इस प्रकार एक नित्यत्व धर्म को अवलंबित (होकर) आत्मा के विषय में नित्य, अनित्य और अवक्तव्य ऐसे तीन पक्षों - भंगों को वाजिब ठहराया है।

उसी प्रकार एकत्व, सत्त्व, भिन्नत्व, अभिलाप्यत्व आदि सर्वसाधारण धर्मों को लेकर किसी भी वस्तु के विषय में ऐसे तीन भंग बनते हैं, और उस पर से सात बनते हैं। चेतनत्व घटत्व आदि असाधारण धर्मों को लेकर भी सप्तभंगी का अबंधत्व किया जा सकता है । एक वस्तु में व्यापक या अव्यापक जितजितने धर्म होते हों उन प्रत्येक को लेकर उसकी दूसरी बाजु सोचकर सप्तभंग के अर्थघटन किये जा सकते हैं।

प्राचीन काल में आत्मा, शब्द आदि पदार्थों में नित्यत्व-अनित्यत्व, सत्य - असत्य, एकत्व-बहुत्व, व्यापकत्व-अव्यापकत्व आदि विषयों में परस्पर बिलकुल विरोधी वाद चलते थे। उन वादों का समन्वय करने की वृत्ति में से भंगकल्पना आई। उस भंगकल्पनाने फिर सांप्रदायिकवाद का रूप धारण किया और सप्तभंगी मे परिणमन हुआ।

सात से अधिक भंग संभवित नहीं है, इसी लिये ही सात की संख्या कही है। मूल तीन की विविध संयोजना करें और सात में अंतर्भाव न पाये ऐसा भंग उत्पन्न कर सके तो जैनदर्शन सप्तभंगित्व का आग्रह कर ही नहीं सकता ।

इस का सार संक्षेप में इस प्रकार -

१. तत्कालीन चलते विरोधी वादों का समीकरण करना। यह भावना सप्तभंगी की प्रेरक है।

२. वैसा करके वस्तु के स्वरूप की निश्चितता करना और यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना, यह उसका साध्य है।

३. बुद्धि में भासित किसी भी धर्म के विषय में मूल में तीन ही विकल्प संभवित हैं और चाहे जितने शब्दिक परिवर्तन से संख्या बढ़ायें तो भी सात ही हो सकते हैं।

४. जितने धर्म उतनी ही सप्तभंगी है। यह वाद अनेकांतदृष्टि का विचारविषयक एक सबूत है। उसके उदाहरण जो शब्द, आत्मा आदि दिये हैं, उसका कारण यह है कि प्राचीन आर्य चिंतक आत्मा का विचार करते थे और अधिक तो आगम-प्रामाण्य की चर्चा में शब्द को लेते थे।

५. वैदिक आदि दर्शनों में, विशेष कर वल्लभदर्शन में, 'सर्व धर्म समन्वय' है, वह इसका ही एक रूप है। शंकर स्वयं वस्तु का वर्णन करते हैं, फिर भी अनिर्वचनीय कहते हैं ।

६. प्रमाण से बाधित न हो ऐसा सब कुछ ही संगृहीत कर लेने का इसके पीछे उद्देश है - फिर भले वह विरुद्ध माना जाता हो ।

* * * * *

लेखांक ४

जैन तत्त्वज्ञान : जैन दर्शन

तत्त्वज्ञान अर्थात् विश्व के बाह्य और आंतरिक स्वरूप में एवं उसके सामान्य और व्यापक नियमों के सम्बन्ध में तात्त्विक दृष्टि से चिंतन। ऐसा चिंतन किसी एक ही देश, एक ही जाति अथवा एक ही प्रजा में उत्पन्न होता है और क्रमशः विकास प्राप्त करता है ऐसा नहीं होता; परंतु इस प्रकार का चिंतन मनुष्य का विशिष्ट स्वरूप होने से वह शीघ्र या विलम्ब से प्रत्येक देश में बसनेवाली प्रत्येक प्रकार की मानवप्रजा में अल्प अथवा अधिक अंश में उत्पन्न होता है और ऐसा चिंतन भिन्न भिन्न प्रजाओं के परस्पर संसर्ग के कारण और कभी बिलकुल (सर्वथा) स्वतंत्र रूप से भी विशेष विकसित होता है, एवं सामान्य भूमिका में से गुज़र कर वह अनेक रूपों में प्रारम्भ से आजतक भूखंड पर मनुष्य जाति ने जो तात्त्विक चिंतन किये हैं वे सब आज अस्तित्त्व में नहीं हैं, एवं उन सब चिंतनों का क्रमिक इतिहास भी पूर्णरूप से हमारे सामने नहीं है फिर भी अभी उस विषय में जो कुछ सामग्री हमारे सामने है और उस विषय में थोड़ा सा भी जो कुछ हम जानते हैं उस पर से इतना तो निर्विवादरूप से कहा जा सकता है कि तत्त्वचिंतन की भिन्न भिन्न एवं परस्परविरोधी दिखाई देती चाहे जितनी धाराएँ हों, फिर भी उन सभी चिंतनधाराओं का सामान्य स्वरूप एक है और वह यह कि विश्व के बाह्य और आंतरिक स्वरूप के सामान्य और व्यापक नियमों का रहस्य खोज निकालना।

तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति का स्रोत

जैसे कोई मनुष्यव्यक्ति प्रथम से ही पूर्ण नहीं होता, परंतु वह बाल्य आदि भिन्न भिन्न अवस्थाओं में से गुज़रने के साथ ही अपने अनुभवों को बढ़ाकर अनुक्रम

से पूर्णता की दिशा में आगे बढ़ता है, वैसे ही मनुष्यजाति के विषय में भी है। मनुष्यजाति को भी बाल्य आदि क्रमिक अवस्थाएँ अपेक्षा विशेष से होती ही हैं। उसका जीवन व्यक्ति के जीवन से अत्यन्त ही दीर्घ एवं विशाल होने से उसकी बाल्य आदि अवस्थाओं का समय भी उतना ही दीर्घ हो यह स्वाभाविक है। मनुष्यजाति जब निसर्ग की गोद में आयी और उसने प्रथम बाह्य विश्व की ओर आंख खोली तब उसके समक्ष अद्भुत और चमत्कारी वस्तुएँ एवं घटनाएँ उपस्थित हुईं। एक ओर सूर्य, चन्द्र और अनगिनत तारकमंडल और दूसरी ओर समुद्र, पर्वत एवं विशाल नदीप्रवाह तथा मेघगर्जनाओं और विद्युत्चमत्कारों ने उसका ध्यान आकृष्ट किया। मनुष्य का मानस इन सब स्थूल पदार्थों के सूक्ष्म चिंतन में प्रवृत्त हुआ और उसे उस विषय में अनेक प्रश्न उठे। जिस प्रकार मनुष्यमन को बाह्य विश्व के गूढ एवं अतिसूक्ष्म स्वरूप विषयक एवं उसके सामान्य नियमों के विषय में विविध प्रश्न उपस्थित हुए, उस प्रकार उसे आंतरिक विश्व के गूढ एवं अतिसूक्ष्म स्वरूप के विषय में भी विविध प्रश्न उत्पन्न हुए। इन प्रश्नों की उत्पत्ति वही ही तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति का प्रथम सोपान। ये प्रश्न चाहे जितने हों और कालक्रम से उनमें से दूसरे प्रधान और उपप्रश्न भी चाहे जितने जन्मे हों फिर भी कुल मिलाकर इन सारे प्रश्नों को संक्षेप में निम्नानुकार बताया जा सकता है :-

तात्त्विक प्रश्न

स्पष्ट दीखाई दे रही रीति से सतत परिवर्तन पा रहा यह बाह्य विश्व कब उत्पन्न हुआ होगा? किसमें से उत्पन्न हुआ होगा? अपने आप ही उत्पन्न हुआ होगा या किसीने उत्पन्न किया होगा? और उत्पन्न हुआ न हो तो क्या यह विश्व ऐसा ही था और है? अगर उस के कारण हों तो वे स्वयं बिना परिवर्तन के शाश्वत ही होने चाहिये या परिवर्तनशील होने चाहिये? फिर वे कारण किसी भिन्न भिन्न प्रकार के ही होंगे या सारे बाह्य विश्व का कारण केवल एक रूप ही होंगे? इस विश्व की जो व्यवस्थित और नियमबद्ध संचालना और रचना दीखती है वह बुद्धिपूर्वक होनी चाहिये या यंत्रवत् अनादिसिद्ध होनी चाहिये? अगर विश्वव्यवस्था बुद्धिपूर्वक हो तो वह किसकी बुद्धि के कारण है? क्या वह बुद्धिमान तत्त्व स्वयं तटस्थ रहकर विश्व का नियमन करता है या वह स्वयं ही विश्व रूप में परिणमित है अथवा दिखाई देता है?

उपर्युक्त ढंग से आंतरिक विश्व के सम्बन्ध में भी प्रश्न उठे कि जो उस बाह्य विश्व का उपयोग करता है अथवा बाह्य विश्व के विषय में और अपने विषय में विचार करता है वह तत्त्व क्या है? अहं के रूप में भासित होता वह तत्त्व क्या बाह्य विश्व के जैसी ही प्रकृति का है या किसी भिन्न स्वभाव का है? यह आंतरिक तत्त्व अनादि है या वह भी कभी किसी अन्य कारण में से उत्पन्न हुआ है? फिर अहं रूप में भासित अनेक तत्त्व वस्तुतः भिन्न ही हैं या किसी एक मूल तत्त्व की निर्मितियाँ है? ये सारे सजीव तत्त्व सचमुच ही भिन्न हों तो वे परिवर्तनशील हैं या केवल कूटस्थ हैं? उन तत्त्वों का कभी अंत आनेवाला है या काल की दृष्टि से अंतरहित ही हैं? उसी प्रकार ये सारे देहमर्यादित तत्त्व वास्तव में देश की दृष्टि से व्यापक हैं या परिमित हैं?

ये और इस प्रकार के अन्य भी बहुत से प्रश्न तत्त्वचिंतन के प्रदेश में उपस्थित हुए। इन सारे प्रश्नों के अथवा उनमें से कुछ प्रश्नों के उत्तर हम अलग अलग प्रजाओं के तात्त्विक चिंतन के इतिहास में अनेक प्रकार से देखते हैं। ग्रीक चिंतकों ने अति प्राचीन समय से इन प्रश्नों का पृथक्करण करना प्रारम्भ किया था। उनका चिंतन अनेक प्रकार से विकसित हुआ जो पाश्चात्य दर्शन में खास महत्त्व का हिस्सा रोकता है। आर्यावर्त के चिंतकों ने तो ग्रीक चिंतकों से पूर्व हज़ारों वर्ष आगे से इन प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने विविध प्रयत्न किये थे, जिसका इतिहास हमारे सन्मुख स्पष्ट है।

उत्तरों का संक्षिप्त वर्गीकरण

आर्य चिंतकों ने एक एक प्रश्न पर दिये हुए भिन्न भिन्न उत्तर और उस विषय में भी मतभेद की शाखाएँ अपार हैं, परंतु सामान्य रूप से हम संक्षेप में उन उत्तरों का वर्गीकरण करें तो वह इस प्रकार किया जा सकता है :-

एक विचार प्रवाह ऐसा प्रारम्भ हुआ कि वह बाह्य विश्व को जन्य मानता, परंतु वह विश्व किसी कारण में से बिलकुल नया ही – पहले नहीं हो ऐसा होने का इन्कार करता और यों कहता कि जैसे दूध में मक्खन छिपा रहता है और कभी केवल आविर्भाव पाता है, वैसे यह सारा स्थूल विश्व किसी सूक्ष्म कारण में से केवल आविर्भाव पाये जाता है और वह मूल कारण तो स्वतः सिद्ध अनादि है।

दूसरा विचार प्रवाह ऐसा मानता था कि यह बाह्य विश्व किसी एक कारण से जन्म नहीं लेता। उसके स्वभाव से भिन्न भिन्न ऐसे अनेक कारण हैं और उन कारणों में भी विश्व दूध में मक्खन की भाँति छिपा रहा हुआ नहीं था, परंतु जैसे अलग अलग लकड़ों के टुकड़ों के मिलने से एक नई ही गाड़ी निर्मित होती है, वैसे उन भिन्न भिन्न प्रकार के मूल कारणों के संश्लेषण-विश्लेषण में से यह बाह्य विश्व बिलकुल नया ही उत्पन्न होता है। पहला परिणामवादी और दूसरा कार्यवादी। ये दोनों विचार प्रवाह बाह्य विश्व के आविर्भाव अथवा उत्पत्ति के विषय में मतभेद रखते हुए भी आंतरिक विश्व के स्वरूप के विषय में सामान्य रूप से एकमत थे। दोनों ऐसा मानते (थे) कि अहं नामक आत्मतत्त्व अनादि है। न तो है वह किसी का परिणाम, या न तो है वह किसी कारण में से जन्मा हुआ। जैसे वह आत्मतत्त्व अनादि है, वैसे वह देश और काल उन दोनों दृष्टि से अनंत भी है; और वह आत्मतत्त्व देहभेद से भिन्नभिन्न है, वास्तविक रीति से वह एक नहीं है।

तीसरा विचार प्रवाह ऐसा भी था कि जो, बाह्य विश्व और आंतरिक जीवजगत दोनों को किसी एक अखंड सत् तत्त्व का परिणाम मानता था और मूल में बाह्य अथवा आंतरिक विश्व की प्रकृति अथवा कारण में कोई भी भेद मानने का इन्कार करता था।

जैन विचार प्रवाह का स्वरूप

उपर्युक्त तीन विचार प्रवाहों को हम अनुक्रम से यहाँ प्रकृतिवादी, परमाणुवादी और ब्रह्मवादी नाम से पहचानेंगे। इनमें से प्रथम के दो विचारप्रवाहों से विशेष मिलता हुआ और फिर भी उससे भिन्न ऐसा एक चौथा विचार प्रवाह भी साथ साथ में प्रवर्तित था। वह विचार प्रवाह था तो परमाणुवादी, परंतु वह दूसरे विचार प्रवाह की भाँति बाह्य विश्व के कारणभूत परमाणुओं को मूल में से भिन्न भिन्न प्रकार के मानने का पक्ष नहीं लेता था, परंतु मूल में सारे ही परमाणु एक समान प्रकृति के हैं ऐसा मानता था। और परमाणुपाद का स्वीकार करते हुए भी उसमें से मात्र विश्व उत्पन्न होता है ऐसा भी नहीं मानते हुए वह प्रकृतिवादी की तरह परिणाम और आविर्भाव को मानते होने से, ऐसा कहता था कि परमाणुपुंज में से बाह्य विश्व अपने आप परिणमित होता है। इस प्रकार इस चौथे विचार प्रवाह का झुकाव परमाणुवाद की भूमिका पर प्रकृतिवाद के परिणाम की मान्यता की ओर था।

उसकी एक विशेषता यह भी थी कि वह समग्र बाह्य विश्व को आविर्भावियुक्त नहीं मानते हुए उसमें से कुछ कार्यों को उत्पत्तिशील भी मानता था। वह यह कहता कि बाह्य विश्व में कितनी ही वस्तुएँ ऐसीं हैं कि जो किसी पुरुष के प्रयत्न के बिना ही अपने परमाणुरूप कारणों में से जन्म लेतीं हैं। वैसी वस्तुएँ तिल में से तेल की भाँति अपने कारण में से केवल आविर्भाव पाती हैं, आविर्भूत होतीं हैं, परन्तु बिलकुल नई नहीं उत्पन्न होतीं; जब कि बाह्य विश्व में बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी भी हैं कि जो अपने जड़ कारणों में से तीन उत्पन्न होतीं हैं, परंतु अपनी उत्पत्ति में किसी पुरुष के प्रयत्न की अपेक्षा रखतीं हैं। जो वस्तुएँ पुरुष के प्रयत्न की सहाय से जन्म लेतीं हैं, वे वस्तुएँ अपने जड़ कारणों में तिल में तैल की भाँति छिपी नहीं होती, परंतु वे सर्वथा नई ही उत्पन्न होतीं हैं। जैसे कोई बढ़ई अलग अलग लकड़ी के टुकड़ों को एकत्र करके उस पर एक घोड़ा बनाये वह घोड़ा लकड़ी के टुकड़ों में छिपा नहीं होता जैसे कि तिल में तैल होता है परंतु घोड़ा बनाने वाले बढ़ई की बुद्धि में कल्पना रूप में होता है और वह लकड़ी के टुकड़े के द्वारा मूर्त रूप धारण करती है। अगर बढ़ई चाहता तो वह उसी लकड़ी के टुकड़े में से घोड़ा नहीं बनाते हुए गाय गाड़ी या वैसी दूसरी वस्तु बना सकता था। तिल में से तैल निकालने की बात इस से सर्वथा भिन्न है। कोई चाहे जितना विचार करे या चाहे फिर भी तिल में से घी या मक्खन तो निकाल नहीं सकता है! इस प्रकार प्रस्तुत चौथा विचार प्रवाह परमाणुवादी फिर भी एक ओर परिणाम और अविर्भाव मानने के विषय में प्रकृतिवादी विचार प्रवाह के साथ मिलता था, और दूसरी ओर कार्य एवं उत्पत्ति के विषय में परमाणुवादी दूसरे विचार प्रवाह को मिलता था।

यह तो बाह्य विश्व के विषय में चौथे विचार प्रवाह की मान्यता हुई, परंतु आत्मतत्त्व के विषय में तो उसकी मान्यता उपर्युक्त तीनों विचार प्रवाहों से भिन्न ही थी। वह मानता था कि देहभेद से आत्मा भिन्न है, परंतु ये सारी ही आत्माएँ देशदृष्टि से व्यापक नहीं हैं एवं केवल कूटस्थ भी नहीं हैं। वह ऐसा मानता था कि जैसे बाह्य विश्व परिवर्तनशील है, वैसे आत्मा भी परिणामी होने से सतत परिवर्तनशील हैं। आत्मतत्त्व संकोच-विस्तारशील भी है और इस कारण से वह देहप्रमाण है।

यह चौथा विचार प्रवाह वही जैन तत्त्वज्ञान का प्राचीन उत्स (मूल) है। भगवान महावीर से पहले बहुत समय आगे से वह विचार प्रवाह चलता आ रहा था और वह अपने ढंग से विकसित होता एवं स्थिर होता जाता था। आज इस चौथे

विचार प्रवाह का जो स्पष्ट, विकसित और स्थिररूप हमें प्राचीन या अर्वाचीन उपलब्ध जैन शास्त्रो में दृष्टिगत होता है, वह महदंश में भगवान महावीर के चिंतन को आभारी है। जैन मत की प्रधान श्वेताम्बर और दिगम्बर दो शाखाएँ हैं। दोनों का साहित्य भिन्न भिन्न है, परंतु जैन तत्त्वज्ञान का जो स्वरूप स्थिर बना हुआ है, वह दोनों शाखाओं में लेश भी परिवर्तन के सिवा एक ही जैसा है। यहाँ एक बात खास नोट करने जैसी है और वह यह कि वैदिक और बौद्ध मत के छोटे-बड़े अनेक भेद पड़े हैं। उनमें से कुछ तो एक दूसरे से बिलकुल विरोधी मंतव्य रखने वाले भी हैं। इन सब भेदों के बीच में विशेषता यह है कि जब वैदिक और बौद्ध मत के सारे ही भेदपंथ आचार विषयक मतभेदों से विशेष तत्त्वचिंतन के विषय में भी कुछ मतभेद रखतें हैं, तब **जैन मत के सारे ही संप्रदाय केवल आचार भेद पर सृजित हैं। उनमें तत्त्वचिंतन के विषय में कोई मौलिक भेद अब तक देखा या लिखा गया नहीं है। केवल आर्य तत्त्वचिंतन के इतिहास में ही नहीं, अपितु मानवीय तत्त्वचिंतन के समग्र इतिहास में यह एक ही दृष्टांत ऐसा है कि इतने सारे सुदीर्घ समय का विशिष्ट इतिहास (धारण करते हुए) रखते हुए भी जिसके तत्त्वचिंतन का प्रचार मौलिक रूप से अखंडित ही रहा हो !**

पौर्वात्य और पाश्चात्य तत्त्वज्ञान की प्रकृति का तोलन

तत्त्वज्ञान पौर्वात्य हो या प्राश्चात्य, परंतु सारे ही तत्त्वज्ञानों के इतिहास में हम देखते हैं कि केवल जगत, जीव और ईश्वर के स्वरूप चिंतन में ही तत्त्वज्ञान पूर्ण नहीं होता है, परंतु वह अपने प्रदेश में चारित्र का प्रश्न भी हाथ में उठाता है। अधिक या अल्प अंश में एक या दूसरे प्रकार से प्रत्येक तत्त्वज्ञान अपने में जीवनशोधन की मीमांसा समाविष्ट करता है। अलबत्ता पौर्वात्य और पाश्चात्य तत्त्वज्ञान के विकास में इस विषय में हम थोड़ा अंतर भी देखते हैं। ग्रीक तत्त्वज्ञान का प्रारंभ केवल विश्व के स्वरूप विषयक प्रश्नों में से होता है। आगे चलते हुए क्रिश्चियानिटी के साथ उसका सम्बन्ध जुड़ने से उसमें जीवनशोधन का भी प्रश्न जोड़ा जाता है और फिर पाश्चात्य तत्त्वचिंतन की एक शाखा में जीवनशोधन की वह मीमांसा विशेष स्थान जमाती है। आख़िर अर्वाचीन समय तक भी रोमन केथोलिक संप्रदाय में हम तत्त्वचिंतन को जीवनशोधन के विचार के साथ सुश्रृंखलित देखते हैं। परंतु आर्यतत्त्वज्ञान के इतिहास में हम एक महती विशेषता देखते हैं और वह यह कि आर्य तत्त्वज्ञान का प्रारम्भ ही मानों जीवनशोधन के प्रश्नमें से हुआ हो ऐसा प्रतीत

होता है। क्योंकि आर्य तत्त्वज्ञान की वैदिक, बौद्धिक और जैन इन तीनों प्रधान शाखाओं में एक समान रूप से विश्वचिंतन के साथ ही जीवनशोधन का चिंतन सुश्रृंखलित है। आर्यावर्त का कोई भी दर्शन ऐसा नहीं है कि जो केवल विश्वचिंतन कर संतुष्ट होता हो। परंतु इस से ऐसा विपरित हम देखते हैं कि प्रत्येक मुख्य या उसका शाखारूप दर्शन जगत, जीव और ईश्वर विषयक अपने विशिष्ट विचार दर्शाकर अंततोगत्वा जीवनशोधन के प्रश्न का ही विश्लेषण करता है और जीवन शोधन की प्रक्रिया दर्शाकर विराम पाता है। इसलिये हम प्रत्येक आर्य दर्शन के मूल ग्रंथ में आरम्भ में मोक्ष का उद्देश और अंतमें उसका ही उपसंहार देखते हैं। इसी कारण से सांख्यदर्शन जैसे अपना विशिष्ट योग रखता है और वह योगदर्शन से अभिन्न है, वैसे न्याय, वैशेषिक और वेदांतदर्शन में भी योग के मूल सिद्धांत हैं। बौद्ध दर्शन में भी उसकी विशिष्ट योगप्रक्रिया ने खास स्थान रोका है। उसी प्रकार जैन दर्शन भी योगप्रक्रिया के विषय में पूर्ण विचार दर्शाता है।

जीवन शोधन के मौलिक प्रश्नों की एकता

इस प्रकार हमने देखा कि जैन दर्शन में मुख्य दो भाग हैं: एक तत्त्वचिंतन का और दूसरा जीवनशोधन का। यहाँ एक बात खास स्मरण में रखने योग्य है और वह यह है कि वैदिक दर्शन की कोई भी परम्परा लें या बौद्ध दर्शन की कोई परम्परा लें और उसकी जैन दर्शन की परम्परा के साथ तुलना करें तो एक वस्तु स्पष्ट दिखाई देगी कि इन सारी परम्पराओं में जो भेद है वह दो विषय में है। एक तो जगत, जीव और ईश्वर के स्वरूपचिंतन के बारे में और दूसरा आचार के स्थूल एवं बाह्य विधिविधान और स्थूल जीवनशैली (रहन-सहन) के बारे में। परंतु आर्यदर्शन की प्रत्येक परम्परा में जीवनशोधन संबंधित मौलिक प्रश्नों और उसके उत्तरों में लेशमात्र भी अंतर नहीं है। कोई ईश्वर को माने या नहीं, कोई प्रकृतिवादी हो या कोई परमाणुवादी, कोई आत्मभेद का स्वीकार करे या आत्मा के एकत्व का स्वीकार करे, कोई आत्मा को व्यापक और नित्य माने और कोई उस से विपरीत माने, उसी प्रकार कोई यज्ञयाग द्वारा भक्ति पर ज़ोर दे या कोई अधिक सख़्त नियमों का अवलंबन लेकर त्याग पर ज़ोर दें, परंतु प्रत्येक परंपरा में इतने प्रश्न एव मान हैं:-

दुःख है या नहीं? हो तो उसका कारण क्या? उस क़ारण का नाश सम्भव है? और सम्भव हो तो किस प्रकार से? अंतिम साध्य क्या होना चाहिये ? इन प्रश्नों के

उत्तर भी प्रत्येक परंपरा में एक ही हैं। भले शब्दभेद हो, संक्षेप या विस्तार हों, फिर भी प्रत्येक का उत्तर यही है कि अविद्या और तृष्णा ये दुःख के कारण हैं। उसका नाश संभवित है। विद्या से और तृष्णाछेद के द्वारा दुःख के कारणों का नाश होते ही दुःख स्वयं नष्ट होता है और वही जीवन का मुख्य साध्य है। आर्यदर्शनों की प्रत्येक परम्परा जीवन शोधन के मौलिक विचार के विषय में और उसके नियमों के विषय में बिलकुल एकमत है। इसलिये यहाँ जैनदर्शन के विषय में कुछ भी कहने में मुख्य रूप से उसकी जीवन शोधन की मीमांसा का ही संक्षेप में कथन करना अधिक प्रासंगिक है।

जीवन शोधन की जैन प्रक्रिया

जैन दर्शन कहता है कि आत्मा स्वाभाविक रूप से शुद्ध और सच्चिदानंद रूप है। उसमें जो अशुद्धि, विकार या दुःखरूपता दिखाई देते हैं वे अज्ञान और मोह के अनादि प्रवाह के कारण हैं। अज्ञान को घटाने और बिलकुल नष्ट करने और मोह का विलय करने जैनदर्शन एक ओर से विवेकशक्ति विकसित करने को कहता है और दूसरी ओर वह रागद्वेष के संस्कार नष्ट करने को कहता है। जैनदर्शन आत्मा को तीन भूमिकाओं में विभाजित कर देता है। जब अज्ञान और मोह का पूर्ण प्राबल्य हो और उसके कारण आत्मा वास्तविक तत्त्व का चिंतन ही न कर सके एवं सत्य तथा स्थायी सुख की दिशा में एक भी कदम भरने की इच्छा तक न कर सके, तब वह बहिरात्मा कहा जाता है। जीव की यह प्रथम भूमिका हुई। यह भूमिका हो तब तक पुनर्जन्म का चक्र बंध होने का कभी संभव ही नहीं है और लौकिक दृष्टि से चाहे जितना विकास दिखाई दे फिर भी वास्तव में तो वह आत्मा अविकसित ही होती है।

विवेकशक्ति का प्रादुर्भाव जब हो और राग द्वेष के संस्कारों का बल जब क्षीण होने लगे तब दूसरी भूमिका प्रारम्भ होती है। उसे जैनदर्शन अंतरात्मा कहता है। इस भूमिका के समय यद्यपि देहधारण को उपयोगी ऐसी सारी दुन्यवी प्रवृत्ति अल्प-अधिक चलती होती है, तथापि विवेकशक्ति के विकास के प्रमाण में और रागद्वेष की मंदता के प्रमाण में वह प्रवृत्ति अनासक्तिमय होती है। इस दूसरी भूमिका में प्रवृत्ति होते हुए भी उसमें अंतर से निवृत्ति का तत्त्व होता है। दूसरी भूमिका के अनगिनत चढ़ते सोपान जब पार कर दिये जायँ, तब आत्मा परमात्मा की दशा को प्राप्त हुई कहा जाता है। जीवनशोधन की यह अंतिम भूमिका और पूर्ण भूमिका है।

जैनदर्शन कहता है कि इस भूमिका पर पहुंचने के पश्चात् पुनर्जन्म का चक्र सदा के लिये नितान्त स्थगित हो जाता है।

ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से हम देख सकते हैं कि अविवेक (मिथ्यादृष्टि) और मोह (तृष्णा) ये दो ही संसार है अथवा संसार के कारण हैं। उससे विपरीत विवेक और वीतरागत्व ही मोक्ष है अथवा मोक्ष का मार्ग है। यही जीवनशोधन की संक्षिप्त मीमांसा अनेक जैन ग्रंथों में, अनेक प्रकार से, संक्षिप्त अथवा विस्तार से, और भिन्न भिन्न परिभाषाओं में वर्णित मिलती है, और यही जीवनमीमांसा अक्षरश: वैदिक एवं बौद्ध दर्शनों में भी पद पद पर दृष्टिगत होती है।

कुछ विशेष तुलना

ऊपर तत्त्वज्ञान की मौलिक जैन विचारधारा और आध्यात्मिक विकासक्रम की जैन विचारधारा का अति ही संक्षेप में निर्देश किया है। इस चालु व्याख्यान में उसके अधिक विस्तार को स्थान नहीं है। फिर भी उसी विचार को अधिक स्पष्ट करने हेतु यहाँ भारतीय अन्य दर्शनों के विचारों के साथ कुछ तुलना करनी योग्य है।

(क) जैनदर्शन जगत् को मायावादी की भाँति केवल आभास अथवा केवल काल्पनिक नहीं मानता, परंतु वह जगत् को सत् मानता है। फिर भी जैनदर्शन संमत सत्-तत्त्व यह चार्वाक की भाँति केवल जड़ अर्थात् सहज चैतन्यरहित नहीं है। उसी प्रकार जैनदर्शन संमत सत्-तत्त्व यह शांकर वेदान्त अनुसार केवल चैतन्यमात्र भी नहीं है, परंतु जैसे सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक पूर्वमीमांसा और बौद्ध दर्शन सत्-तत्त्व को नितान्त स्वतन्त्र एवं परस्पर भिन्न ऐसे जड़ और चेतन दो विभागों में बांट लेता है, वैसे जैनदर्शन भी सत्-तत्त्व की अनादिसिद्ध जड़ तथा चेतन ऐसी दो प्रकृति स्वीकार करता है, जो देश और काल के प्रवाह में साथ रहते हुए भी मूल में बिलकुल स्वतंत्र है। जैसे न्याय-वैशेषिक और योगदर्शन आदि ऐसा स्वीकार करते हैं कि इस जगत का विशिष्ट कार्यस्वरूप भले ही जड़ और चेतन दो पदार्थों पर से निर्मित होता हो, फिर भी उस कार्य के पीछे किसी अनादिसिद्ध समर्थ चेतनशक्ति का हाथ है, उस ईश्वरीय हाथ के सिवा ऐसा अद्भुत कार्य संभव नहीं हो सकता वैसे जैनदर्शन नहीं मानता। वह प्राचीन सांख्य, पूर्वमीमांसक और बौद्ध आदि की भाँति मानता है कि जड़ और चेतन ये दो सत्-प्रवाह अपने आप, किसी तीसरी विशिष्ट

शक्ति के हाथ के सिवा ही, चलते रहते हैं, और इसलिये इस जगत की उत्पत्ति या व्यवस्था के लिये ईश्वर जैसी स्वतंत्र अनादिसिद्ध व्यक्ति का स्वीकार करने की वह ना कहता है, निषेध करता है। यद्यपि जैनदर्शन न्याय-वैशेषिक, बौद्ध आदि की भाँति जड़ सत् तत्त्व को अनादिसिद्ध अनंत व्यक्ति रूप स्वीकार करता है और सांख्य की भाँति एक व्यक्तिरूप स्वीकार नहीं करता, फिर भी वह सांख्य के प्रकृतिगामी सहज परिणामवाद को अनंत परमाणु नामक जड़ सत्-तत्त्वो में स्थान देता है।

इस प्रकार जैन मान्यता अनुसार जगत् का परिवर्तन-प्रवाह अपने आप ही चलता है, फिर भी जैन दर्शन इतना तो स्पष्ट कहता है कि विश्व की जो जो घटनाएँ किसी की बुद्धि और प्रयत्न के कारण से दीखतीं हैं, उन घटनाओं के पीछे ईश्वर का नहीं, परंतु उन घटनाओं के परिणाम में भागीदार होनेवाले संसारी जीव का हाथ है, अर्थात् वैसी घटनाएँ जाने-अनजाने किसी न किसी संसारी जीव के बुद्धि और प्रयत्न के कारण होतीं हैं। इस विषय में प्राचीन सांख्य और बौद्ध दर्शन जैनदर्शन जैसे ही विचार रखते हैं।

वेदांतदर्शन की भांति जैनदर्शन सचेतन तत्त्व को एक या अखंड नहीं मानता, परंतु सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक एवं बौद्ध आदि की भाँति वह सचेतन तत्त्व को अनेक व्यक्तिरूप मानता है। फिर भी उनके साथ भी जैनदर्शन को थोड़ा मतभेद है, और वह यह है कि जैनदर्शन की मान्यता अनुसार सचेतन तत्त्व बौद्ध मान्यतानुसार केवल परिवर्तन-प्रवाह नहीं है एवं सांख्य-न्याय आदि की भाँति केवल कूटस्थ भी नहीं है, किन्तु जैनदर्शन कहता है कि मूल में सचेतन तत्त्व ध्रुव अर्थात् अनादि-अनंत होते हुए भी वह देश-काल का असर धारण किये सिवा रह नहीं सकता है। इसलिये जैन मतानुसार जीव भी जड़ की भाँति परिणामिनित्य है। जैनदर्शन ईश्वर जैसे किसी व्यक्ति को सर्वथा स्वतंत्र रूप में नहीं मानता, फिर भी वह ईश्वर के समग्र गुण जीवमात्र में स्वीकार करता है, इसलिये जैन दर्शन अनुसार प्रत्येक जीव में ईश्वरत्व की शक्ति है, भले ही वह, आवरण से दबी हुई हो, परंतु जीव यदि योग्य दिशा में प्रयत्न करे तो वह स्वयं में निहित ईश्वरीय शक्ति को पूर्णरूप से विकसित कर स्वयं ही ईश्वर बनता है। ('सर्वजीव हैं सिद्ध सम, जो समझे, बन जायँ।' - आत्मसिद्धिशास्त्र श्रीमद् राजचंद्र जी - सं.)। इस प्रकार जैन मान्यतानुसार ईश्वरत्व को अलग स्थान नहीं होते हुए

भी वह ईश्वरतत्त्व की मान्यता रखता है और उसकी उपासना भी स्वीकार करता है । जो जो जीवात्मा कर्मवासनाओं से पूर्ण रूप से मुक्त हुए वे सारे ही समानभाव से ईश्वर हैं। उनका आदर्श सन्मुख रखकर अपने में निहित वैसी ही पूर्ण शक्ति को प्रकट करना यह जैन उपासना का ध्येय है। जैसे शांकर वेदांत मानता है कि जीव स्वयं ही ब्रह्म है, वैसे जैनदर्शन कहता है कि जीव स्वयं ही ईश्वर या परमात्मा है। वेदांत दर्शन अनुसार जीव का ब्रह्मभाव अविद्या से आवृत्त है और अविद्या दूर होने पर अनुभव में आता है, वैसे जैनदर्शन अनुसार जीव का परमात्मभाव आवृत्त है और उस आवरण के दूर होने पर वह पूर्णरूप से अनुभव में आता है। **इस विषय में वास्तविक रूप में जैन और वेदांत के बीच व्यक्ति बहुत्व सिवा कोई भी भेद नहीं है।**

(ख) जैन शास्त्र में जो सात तत्त्व कहे हुए हैं उनमें से मूल जीव और अजीव इन दो तत्त्वों के विषय में ऊपर तुलना की। अब शेष वास्तव में पांचमें से चार तत्त्व ही रहते हैं। ये चार तत्त्व जीवनशोधन विषयक अर्थात् आध्यात्मिक विकास क्रम-सम्बन्धित हैं, जिन्हें चारित्रीय तत्त्व भी कहा जा सकता है। बंध, आश्रव, संवर और मोक्ष ये चार तत्त्व हैं। इन तत्त्वों को बौद्ध शास्त्रों में अनुक्रम से दुःख, दुःखहेतु, निर्वाणमार्ग और निर्वाण – इन चार आर्यसत्यों के रूप में वर्णित किया गया है। सांख्य और योग शास्त्र में उन्हें ही हेय, हेयहेतु, हानोपाय और हान कहकर चतुर्व्यूह के रूप में वर्णित किया गया है। न्याय और वैशेषिक दर्शन में भी वही वस्तु संसार, मिथ्याज्ञान, सम्यक् ज्ञान और अपवर्ग के नाम देकर वर्णित की गई है। वेदांत दर्शन में संसार, अविद्या, ब्रह्म साक्षात्कार और ब्रह्म भावना नाम से वही वस्तु दर्शित की गई है।

जैन दर्शन में बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा की तीन संक्षिप्त भूमिकाओं को थोड़ी विस्तृत कर चौदह भूमिका के रूप में भी वर्णित की गईं हैं, जो जैन परम्परा में गुणस्थान के नाम से ज्ञात है। योगवासिष्ठ जैसे वेदान्त के ग्रन्थों में भी सात अज्ञान की और सात ज्ञान की इस प्रकार चौदह आत्मिक भूमिकाओं का वर्णन है। सांख्य-योगदर्शन की क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ये पांच चित्त भूमिकाएँ भी इन्हीं चौदह भूमिकाओं का संक्षिप्त वर्गीकरण मात्र हैं। बौद्ध दर्शन में भी उसी आध्यात्मिक विकासक्रम को पृथग्जन, सोतापन्न आदि के रूप में छः भूमिकाओं में विभाजित कर वर्णित किया गया है। इस प्रकार हम सारे ही भारतीय दर्शनों में संसार

से मोक्ष तक की स्थिति, उसका क्रम और उसके कारणों के विषय में नितान्त एक मत और एक विचार पढ़ते हैं तब प्रश्न उठता है कि जब सारे ही दर्शनों के विचारों में मौलिक एकता है, तब पंथ पंथ के बीच में कभी जोड़ा न जा सके ऐसा इतना सारा भेद क्यों दिखाई देता है?

इसका उत्तर स्पष्ट है। पंथों की भिन्नता प्रधानतः दो वस्तुओं के कारण से है: तत्त्वज्ञान की भिन्नता और बाह्य आचार विचार की भिन्नता। कुछ पंथ तो ऐसे ही हैं कि जिनके बाह्य आचार विचार में भेद होने के अतिरिक्त तत्त्वज्ञान की विचार धारा में भी कुछ भेद होता है; जैसे कि वेदांत, बौद्ध और जैन आदि पंथ। फिर कुछ पंथ या उनके खंड़ ऐसे भी होते हैं कि जिनकी तत्त्वज्ञान विषयक विचारधारा में खास भेद होता ही नहीं है, उनका भेद प्रधान रूप से बाह्य आचार को अवलंबित होकर उत्पन्न और पोषित हुआ होता है; उदाहरणार्थ जैनदर्शन की श्वेताम्बर, दिगम्बर और स्थानकवासी इन तीनों शाखाओं को गिनाया जा सकता है।

आत्मा को कोई एक माने या कोई अनेक माने, कोई ईश्वर को माने या कोई न माने इत्यादि तात्त्विक चिंतन का भेद बुद्धि के तरतमभाव पर निर्भर है और वह तरतमभाव अनिवार्य है। उसी प्रकार बाह्य आचार और नियमों के भेद बद्धि, रुचि एवं परिस्थिति के भेद में से जन्म लेते हैं। कोई काशी जाकर गंगास्नान और विश्वनाथ के दर्शन में पवित्रता माने, कोई बुद्धगया और सारनाथ जाकर बुद्ध के दर्शन में कृतकृत्यता माने, कोई शत्रुंजय को भेटकर सफलता माने, कोई मक्का और जेरूसलेम जाकर धन्यता माने, उसी प्रकार कोई 'अगियारस' (ग्यारहवी तिथि) के तप-उपवास को अति पवित्र गिने, दूसरा कोई अष्टमी और चतुर्दशी के व्रत को महत्त्व दे, कोई तप पर अधिक बल नहीं देते हुए दान पर बल दे, तो दूसरा कोई तप पर भी अधिक बल दे। इस प्रकार परंपरागत भिन्न भिन्न संस्कारों का पोषण और रुचिभेद का मानसिक वातावरण अनिवार्य होने से बाह्याचार एवं प्रवृत्ति का भेद कभी मिटने वाला नहीं है। भेद की उत्पादक एवं पोषक इतनी सारी वस्तुएँ फिर भी सत्य ऐसा है कि वह सचमुच में खंड़ित होता ही नहीं। इसीलिये हम उपर्युक्त आध्यात्मिक विकासक्रम सम्बन्धित तुलना में देखते हैं कि किसी भी प्रकार किसी भी भाषा में और किसी भी रूप में जीवन का सत्य एकसमान ही सभी अनुभवी तत्त्वज्ञों के अनुभव में प्रगट हुआ है।

प्रस्तुत वक्तव्य पूर्ण करने से पूर्व जैनदर्शन की सर्वमान्य दो विशेषताओं का उल्लेख कर लूँ। अनेकांत और अहिंसा उन दो मुद्दों की चर्चा पर ही सारे जैन साहित्य की नींव है। जैन आचार और संप्रदाय की विशेषता इन दो बातों से ही दर्शाई जा सकती है। सत्य वास्तव में एक ही होता है, परंतु मनुष्य की दृष्टि उसे एक रूप से ग्रहण कर सकती ही नहीं। इसलिये सत्य के दर्शन के लिये मनुष्य को चाहिये कि वह अपनी दृष्टि मर्यादा विकसित करे और उसमें सत्यग्रहण की सारी ही संभवित रीतियों को स्थान दे। इस उदात्त और विशाल भावना में से अनेकांत की विचारधारा का जन्म हुआ है। पर विचारधारा कोई वादविवाद में जय पाने या वितंडावाद की खींचातानी खेलने अथवा तो शब्द-छल की पहेली सुलझाने आयोजित नहीं हुई है, परंतु वह तो जीवनशोधन के एक भाग के रूप में विवेकशक्ति को विकसित करने और सत्यदर्शन की दिशा में आगे बढ़ने आयोजित की गई है। इसलिये **अनेकांत विचारधारा का सही अर्थ यह है कि सत्यदर्शन को लक्ष्य में रखकर उसके सारे अंशों और भागों को एक विशाल मानसवर्तुल में योग्य प्रकार से स्थान प्रदान करना।**

जैसे जैसे मनुष्यकी विवेकशक्ति विकसित होती है, वैसे वैसे उसकी दृष्टिमर्यादा विकसित होने के कारण उसे अपने भीतर रही हुई संकुचितताओं और वासनाओं के दबाव के सामने खड़ा होना पड़ता है। जब तक मनुष्य संकुचितताओं और वासनाओं के विरुद्ध नहीं होता, तब तक वह अपने जीवन में अनेकांत के विचार को वास्तविक स्थान दे ही नहीं सकता। **इसलिये अनेकांत के विचार की रक्षा और वृद्धि के प्रश्न में से ही अहिंसा का प्रश्न आता है। जैन अहिंसा यह केवल चुपचाप बैठे रहने में या व्यवसाय छोड़ देने में या केवल लकड़े जैसी निश्चेष्ट स्थिति साधने में समाविष्ट नहीं होती। परंतु वह अहिंसा सच्चे आत्मिक बल की अपेक्षा रखती है।** कोई भी विकार खड़ा हुआ, किसी वासना ने सर उठाया या कोई संकीर्णता मन में पैठी वहाँ जैन अहिंसा यों कहती है कि तुम उन विकारों, उन वासनाओं, उन संकीर्णताओं से मरो मत, हारो मत, दबो मत। तुम उनके सामने लड़ो और उन विरोधी बलों को परास्त करो । इस आध्यात्मिक जय हेतु प्रयत्न, यही मुख्य जैन अहिंसा है। इसे संयम कहो, तप कहो, ध्यान कहो या वैसा कोई भी आध्यात्मिक नाम दो, परंतु वस्तुतः वह अहिंसा ही है; और

जैनदर्शन ऐसा कहता है कि अहिंसा केवल स्थूल आचार नही है, परंतु वह शुद्ध विचार के परिपाक स्वरूप अवतरित जीवनोत्कर्षक आचार है।

ऊपर निरूपित अहिंसा के सूक्ष्म और वास्तविक रूप में से कोई भी बाह्याचार जन्मा हो अथवा उस सूक्ष्म रूप की पुष्टि हेतु कोई आचार निर्मित हुआ हो तो उस का अहिंसा के रूप में जैन तत्त्वज्ञान में स्थान है। इससे विपरीत, स्पष्ट रूप से, दिखाई दे रहे किसी भी अहिंसामय आचार या व्यवहार के मूल में यदि अहिंसा का उपर्युक्त आंतरिक तत्त्व सम्बन्ध न रखता हो तो वह आचार और वह व्यवहार जैन दृष्टि से अहिंसा है या अहिंसा के पोषक है ऐसा कहा नहीं जा सकता।

यहाँ जैन तत्त्वज्ञान सम्बन्धित विचार में प्रमेयचर्चा जान बुझकर ही विस्तृत नहीं की है। केवल तद्‌विषयक जैन विचारधारा का संकेत किया है। आचार के विषय में भी किसी बाहरी विचार और संविधान संबंधित चर्चा सकारण ही नहीं की है। परंतु आचार के मूल तत्त्वों की जीवनशोधन के रूप में सहज अल्पचर्चा की है, जिसे जैन परिभाषा में, आस्रव, संवर आदि तत्त्व कहे जाते हैं। आशा है कि यह संक्षिप्त वर्णन जैन दर्शन की विशेष जिज्ञासा उत्पन्न करने में कुछ सहायरूप होगा।

– प्रबुद्ध जैन

१५.०६.१९४६

* * * * *

लेखांक ५

जैन धर्म का प्राण

ब्राह्मण और श्रमण परंपरा

अभी जैनधर्म नाम से जो आचार विचार पहचाना जाता है वह भगवान पार्श्वनाथ के समय में खासकर महावीर के समय में निगंठ धम्म - निर्ग्रन्थ धर्म नाम से भी पहचाना जाता था, परंतु वह श्रमण धर्म भी कहलाता है। अंतर है तो इतना ही है कि एकमात्र जैनधर्म ही श्रमण धर्म नहीं है, श्रमण धर्म की और भी अनेक शाखाएँ भूतकाल में थीं और अब भी बौद्ध आदि कुछ शाखाएँ जीवित हैं। निर्ग्रंथ धर्म या जैनधर्म में श्रमण धर्म के सामान्य लक्षणों के होते हुए भी आचार विचार की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो उसको श्रमण धर्म की अन्य शाखाओंसे पृथक् करती हैं। जैनधर्म के आचार विचार की ऐसी विशेषताओं को जानने के पूर्व अच्छा यह होगा कि, हम प्रारंभ में ही श्रमण धर्म की विशेषता को भलीभांति जान लें जो उसे ब्राह्मण धर्म से अलग करती हैं।

प्राचीन भारतीय संस्कृति का पट अनेक व विविधरंगी है, जिसमें अनेक धर्म परंपराओं के रंग मिश्रित हैं । इसमें मुख्यतया ध्यान में आनेवाली दो धर्म परंपराएँ हैं - (१) ब्राह्मण (२) श्रमण। इन दों परंपराओं के पौर्वापर्य तथा स्थान आदि विवादास्पद प्रश्नों को न उठाकर, केवल ऐसे मुद्दों पर थोड़ी सी चर्चा की जाती है, जो सर्व संमत जैसे हैं तथा जिनसे श्रमण धर्म की मूल भित्ती को पहचानना और उसके द्वारा निर्ग्रन्थ या जैनधर्म को समझना सरल हो जाता है।

वैषम्य और साम्य दृष्टि

ब्राह्मण और श्रमण परंपराओं के बीच छोटे-बड़े अनेक विषयों में मौलिक अंतर हैं, पर उस अंतर को संक्षेप में कहना हो तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि ब्राह्मण-वैदिक परंपरा वैषम्य पर प्रतिष्ठित है, जब कि श्रमण परंपरा साम्य पर प्रतिष्ठित है। यह वैषम्य और साम्य मुख्यतया तीन बातों में देखा जाता है - (१) समाजविषयक (२) साध्यविषयक (३) प्राणीजगत् के प्रति दृष्टिविषयक । समाज विषयक वैषम्य का अर्थ है कि समाजरचना में तथा धर्माधिकार में वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व व मुख्यत्व तथा इतर वर्णों का ब्राह्मण की अपेक्षा कनिष्ठत्व और गौणत्व। ब्राह्मण धर्म का वास्तविक साध्य है अभ्युदय, जो ऐहिक समृद्धि, राज्य और पुत्र,पशु आदि नानाविध लाभों में तथा इन्द्रपद, स्वर्गीय सुख आदि नानाविध पारलौकिक फलों के लाभों में समाता है। अभ्युदय का साधन मुख्यतया यज्ञधर्म अर्थात् नानाविध यज्ञ हैं। इस धर्म में पशु पक्षी आदि की बलि अनिवार्य मानी गयी है और कहा गया है कि **वेद विहित हिंसा धर्म का ही हेतु है। इस विधान में बलि किये जानेवाले निरपराध पशु पक्षी आदि के प्रति स्पष्टतया आत्मसाम्य के अभाव की अर्थात् श्रात्म वैषम्य की दृष्टि है।** इसके विपरीत उक्त तीनों बातो में श्रमण धर्म का साम्य इस प्रकार है: श्रमण धर्म समाज में किसी भी वर्ण का जन्मसिद्ध श्रेष्ठत्व न मानकर गुण-कर्मकृत ही श्रेष्ठत्व व कनिष्ठत्व मानता है, इसलिए यह समाजरचना तथा धर्माधिकार में जन्मसिद्ध वर्णभेद का आदर न कर के गुणकर्म के आधार पर ही सामाजिक व्यवस्था करता है। अत एव उसकी दृष्टि में सद्‌गुणी क्षुद्र भी दुर्गुणी ब्राह्मण आदि से श्रेष्ठ है, और धार्मिक क्षेत्र में योग्यता के आधार पर हर एक वर्ण का पुरुष या स्त्री समान रूप से उच्च पद का अधिकारी है। श्रमण धर्म का अंतिम साध्य ब्राह्मण धर्म की तरह अभ्युदय न होकर निःश्रेयस है। निःश्रेयस का अर्थ है कि, ऐहिक पारलौकिक नानाविध सब लाभों का त्याग सिद्ध करनेवाली ऐसी स्थिति, जिस में पूर्ण साम्य प्रकट होता है और कोई किसी से कम योग्य या अधिक योग्य रहने नहीं पाता। जीव जगत् के प्रति श्रमण धर्म की दृष्टि पूर्ण आत्मसाम्य की है, जिस में न केवल पशु पक्षी आदि या कीट पतंग आदि जंतु का ही समावेश होता है, किंतु वनस्पति जैसे अतिक्षुद्र जीव वर्ग का भी समावेश होता है। **इसमें किसी भी देहधारी का किसी भी निमित्त से किया जानेवाला वध आत्मवध जैसा हि माना गया है और वध मात्र को अधर्म का हेतु माना है।**

ब्राह्मण परंपरा मूल में 'ब्रह्मन्' के आसपास शुरु और विकसित हुई है, जब कि श्रमण परंपरा 'सम' साम्य, शम और श्रम के आसपास शुरु एवं विकसित हुई है। ब्रह्मन् के अनेक अर्थों में से प्राचीन दो अर्थ इस जगह ध्यान देने योग्य हैं। (१) स्तुति, प्रार्थना, (२) यज्ञयागादि कर्म। वैदिक मंत्रों एवं सूक्तों के द्वारा जो नानाविध स्तुतियाँ और प्रार्थनाएँ की जातीं हैं वह ब्रह्मन् कहलाता है। इसी तरह वैदिक मंत्रों के विनियोगवाला यज्ञ-यागादि कर्म भी ब्रह्मन् कहलाता है। वैदिक मंत्रों और सूक्तों का पाठ करनेवाला पुरोहित वर्ग और यज्ञ-यागादि करनेवाला पुरोहित वर्ग ही ब्राह्मण है। वैदिक मंत्रों के द्वारा की जानेवाली स्तुति-प्रार्थना एवं यज्ञयागादि कर्म की अति प्रतिष्ठा के साथ ही साथ पुरोहित वर्ग का समाज में एवं तत्कालीन धर्म में ऐसा प्राधान्य स्थिर हुआ कि जिससे यह ब्राह्मण वर्ग अपने आप को जन्म से श्रेष्ठ मानने लगा और समाज में भी बहुधा वही मान्यता स्थिर हुई जिस के आधारपर वर्गभेद की मान्यता रूढ़ हुई और कहा गया कि, समाजपुरुष का मुख ब्राह्मण है और इतर वर्ग अन्य अंग हैं। इसके विपरीत श्रमण धर्म यह मानता मनवाता था कि सभी सामाजिक स्त्री-पुरुष सत्कर्म एवं धर्मपद के समान रूप से अधिकारी हैं। जो प्रयत्नपूर्वक योग्यता लाभकर्ता है वह वर्ग एवं लिंगभेद के बिना ही गुरुपद का अधिकारी बन सकता है। यह सामाजिक एवं धार्मिक समता की मान्यता जिस तरह ब्राह्मण धर्म की मान्यता से बिल्कुल विरुद्ध थी उसी तरह साध्य विषयक दोनों की, मान्यता भी परस्पर विरुद्ध रही। श्रमण धर्म ऐहिक या पारलौकिक अभ्युदय को सर्वथा हेय मानकर निःश्रेयस को ही एकमात्र उपादेय्य मानने की और अग्रसर था और इसलिए वह साध्य की तरह साधनगत साम्य पर भी उतना ही भार देने लगा। **निःश्रेयस के साधनों में मुख्य है अहिंसा। किसी भी प्राणी की किसी भी प्रकार से हिंसा न करना यही निःश्रेयस का मुख्य साधन है, जिस में अन्य सब साधनों का समावेश हो जाता है। यह साधनागत साम्य दृष्टि हिंसाप्रधान यज्ञ-यागादि कर्म की दृष्टि से बिलकुल विरुद्ध है। इस तरह ब्राह्मण और श्रमण धर्म का वैषम्य और साम्य मूलक इतना विरोध है कि जिससे दोनों धर्मों के बीच पद-पद पर संघर्ष की संभावना है, जो सहस्त्रों वर्षों के इतिहास में लिपिबद्ध** है। यह पुराना विरोध ब्राह्मण काल में भी था और बुद्ध और महावीर के समय में तथा इसके बाद भी। इसी चिरंतन विरोध के प्रवाह को महाभाष्यकार पतंजलि ने अपनी वाणी में व्यक्त किया है। वैयाकरण पाणिनी सूत्र में शाश्वत विरोध का निर्देश किया है। पतंजलि 'शाश्वत' - जन्मसिद्ध विरोधवाले अहि-नकुल, गोव्याघ्र जैसे

द्वंद्वों के उदाहरण देते हुए साथ साथ ब्राह्मण - श्रमण का भी उदाहरण देते हैं (महाभाष्य,२,४,९)। यह ठीक है कि हजार प्रयत्न करने पर भी अहि-नकुल या गो-व्याघ्र का विरोध निर्मूल नही हो सकता, जब कि प्रयत्न करने पर ब्राह्मण और श्रमण का विरोध निर्मूल हो जाना संभव है और इतिहास में कुछ उदाहरण ऐसे उपलब्ध भी हुए हैं जिन में ब्राह्मण और श्रमण के बीच किसी भी प्रकार का वैमनस्य या विरोध देखा नहीं जाता। परन्तु पतंजलि का ब्राह्मण-श्रमण का शाश्वत विरोध विषयक कथन व्यक्तिपरक न होकर वर्गपरक है। कुछ व्यक्तियाँ ऐसी संभव हैं जो ऐसे विरोध से परे हुई हैं या हो सकती हैं परन्तु सारा ब्राह्मण वर्ग या सारा श्रमण वर्ग मौलिक विरोध से परे नहीं है यही पतंजलि का तात्पर्य है। 'शाश्वत' शब्द का अर्थ अविचल न होकर प्रावाहिक इतना ही अभिप्रेत है। पतंजलि से अनेक शताब्दियों के बाद होनेवाले जैन आचार्य हेमचन्द्र ने भी ब्राह्मण-श्रमण उदाहरण देकर पतंजलि के अनुभव की यथार्थता पर मुहर लगाई है (महाभाष्य,२,४,९)। आज इस समाजवादी युग में भी हम यह नहीं कह सकते कि ब्राह्मण और श्रमण वर्ग के बीच विरोध का बीज निर्मूल हुआ है। इस सारे विरोध की जड़ ऊपर सूचित वैषम्य और साम्य की दृष्टि का पूर्व-पश्चिम जैसा अन्तर ही है।

परस्पर प्रभाव और समन्वय

ब्राह्मण और श्रमण परम्परा परस्पर एक दूसरे के प्रभाव से बिलकुल अछूती नहीं है। छोटी-मोटी बातों में एक का प्रभाव दूसरे पर न्यूनाधिक मात्रा में पड़ा हुआ देखा जाता है। उदाहरणार्थ श्रमण धर्म की साम्यदृष्टिमूलक अहिंसा भावना का ब्राह्मण परम्परा पर क्रमशः इतना प्रभाव पड़ा है कि जिससे यज्ञीय हिंसा का समर्थन केवल पुरानी शास्त्रीय चर्चाओं का विषय मात्र रह गया है, व्यवहार में यज्ञीय हिंसा लुप्त हो गई है। अहिंसा व ''सर्वभूतहिते रतः'' सिद्धांत का पूरा आग्रह रखनेवली सांख्य, योग, औपनिषद, अवधूत, सात्वत आदि जिन परम्पराओं ने ब्राह्मण परम्परा के प्राणभूत वेद विषयक प्रामाण्य और ब्राह्मण वर्ण के पुरोहित व गुरु पद का आत्यंतिक विरोध नहीं किया वे परम्पराएँ क्रमशः ब्राह्मण धर्म के सर्वसंग्राहक क्षेत्र में एक या दूसरे रूप में मिल गईं हैं। इसके विपरीत जैन बौद्ध आदि जिन परम्पराओं न वैदिक प्रामाण्य और ब्राह्मण वर्ण के गुरु पद के विरुद्ध आत्यंतिक आग्रह रखा वे परम्पराएँ यद्यपि सदा के लिए ब्राह्मण धर्म से अलग ही रही हैं फिर भी उनके शास्त्र

एवं निवृत्ति धर्म पर ब्राह्मण परम्परा की लोकसंग्राहक वृत्ति का एक या दूसरे रूप में प्रभाव अवश्य पड़ा है।

श्रमण परम्परा के प्रवर्तक

श्रमण धर्म के मूल प्रवर्तक कौन-कौन थे, वे कहाँ-कहाँ और कब हुए इसका यथार्थ और पूरा इतिहास अद्यावधि अज्ञात है पर हम उपलब्ध साहित्य के आधार से इतना तो निःशंक कह सकते हैं कि **नाभिपुत्र ऋषभ तथा आदि विद्वान् कपिल ये साम्य धर्म के पुराने और प्रबल समर्थक थे।** यही कारण है कि उनका पूरा इतिहास अंधकार-ग्रस्त होने पर भी पौराणिक परम्परा में से उनका नाम लुप्त नहीं हुआ है। ब्राह्मण-पुराण ग्रन्थों में ऋषभ का उल्लेख उग्र तपस्वी के रूप में है सही पर उनकी पूरी प्रतिष्ठा तो केवल जैन परम्परा में ही है, जब कि कपिल का ऋषि रूप से निर्देश जैन कथा साहित्य में है फिर भी उनकी पूर्ण प्रतिष्ठा तो सांख्य परम्परा में तथा सांख्यमूलक पुराण ग्रंथों में ही है। ऋषभ और कपिल आदि द्वारा जिस आत्मौपम्य भावना की और तन्मूलक अहिंसा धर्म की प्रतिष्ठा जमी थी उस भावना और धर्म की पोषक अनेक शाखा-प्रशाखाएँ थीं जिनमें से कोई बाह्य तप पर, तो कोई ध्यान पर, तो कोई मात्र चित्त-शुद्धि या असंगता पर अधिक भार देती थी। पर साम्य या समता सबका समान ध्येय था।

जिस शाखा ने साम्यसिद्धि मूलक अहिंसा को सिद्ध करने के लिए अपरिग्रह पर अधिक भार दिया और उसी में से अगार-गृह-ग्रन्थ या अपरिग्रह बंधन के त्याग पर अधिक भार दिया और कहा कि जब तक परिवार एवं परिग्रह का बंधन हो तब तक कभी पूर्ण अहिंसा या पूर्ण साम्य सिद्ध नहीं हो सकता, **श्रमण धर्म की वही शाखा निर्ग्रन्थ नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके प्रधान प्रवर्तक नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ ही जान पड़ते हैं।**

वीतरागता का आग्रह

अहिंसा की भावना के साथ साथ तप और त्याग की भावना अनिवार्य रूप से निर्ग्रन्थ धर्म में ग्रथित तो हो ही गई थी परन्तु साधकों के मन में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि बाह्य त्याग पर अधिक भार देने से क्या आत्मशुद्धि या साम्य पूर्णतया सिद्ध होना संभव है? इसी के उत्तर में से यह विचार फलित हुआ कि राग द्वेष आदि मलिन

वृत्तियों पर विजय पाना ही मुख्य साध्य है। इस साध्य की सिद्धि जिस अहिंसा, जिस तप या जिस त्याग से न हो सके वह अहिंसा, तप या त्याग कैसा ही क्यों न हो पर आध्यात्मिक दृष्टि से अनुपयोगी है। इसी विचार के प्रवर्तक 'जिन' कहलाने लगे। ऐसे जिन अनेक हुए हैं। सच्चक, बुद्ध, गोशालक और महावीर ये सब अपनी-अपनी परम्परा में जिन रूप से प्रसिद्ध रहे हैं परंतु आज जिनकथित जैनधर्म कहने से मुख्यतया महावीर के धर्म का ही बोध होता है जो राग-द्वेष के विजय पर ही मुख्यतया भार देता है। धर्म विकास का इतिहास कहता है कि उत्तरोत्तर उदय में आनेवाली नयी नयी धर्म की अवस्थाओं में उस उस धर्म की पुरानी अविरोधी अवस्थाओं का समावेश अवश्य रहता है। यही कारण है कि जैन धर्म निर्ग्रंथ धर्म भी है और श्रमण धर्म भी है।

श्रमण धर्म की साम्यदृष्टि

अब हमें देखना यह है कि श्रमण धर्म की प्राणभूत साम्य भावना का जैन परम्परा में क्या स्थान है? जैन श्रुत रूप से प्रसिद्ध द्वादशांगी या चतुर्दश पूर्व में 'सामाइय' - 'सामायिक' का स्थान प्रथम है, जो आचारांग सूत्र कहलाता है। जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर महावीर के आचार-विचार का सीधा और स्पष्ट प्रतिबिम्ब मुख्यतया उसी सूत्र में देखने को मिलता है। इसमें जो कुछ कहा गया है उस सब में साम्य, समता या सम पर ही पूर्णतया भार दिया गया है। 'सामाइय' इस प्राकृत या मागधी शब्द का संबंध साम्य, समता या सम से है। साम्यदृष्टिमूलक और साम्यदृष्टिपोषक जो जो आचारविचार हों वे सब सामाइय - सामायिक रूप से जैन परम्परा में स्थान पाते हैं। जैसे ब्राह्मण परम्परा में संध्या एक आवश्यक कर्म है वैसे ही जैन परम्परा में भी गृहस्थ और त्यागी सब के लिए छः आवश्यक कर्म बतलाए हैं जिनमें मुख्य सामाइय है। अगर सामाइय न हो तो और कोई आवश्यक सार्थक नहीं है। गृहस्थ या त्यागी अपने अपने अधिकारानुसार जब-जब धार्मिक जीवन को स्वीकार करता है तब-तब वह 'करेमि भंते सामाइयं' ऐसी प्रतिज्ञा करता है। इसका अर्थ है कि, हे भगवन्! मैं समता या समभाव को स्वीकार करता हूँ। इस समता का विशेष स्पष्टीकरण आगे के दूसरे पद में किया गया है। उसमें कहा है कि मैं सावद्ययोग अर्थात् पाप व्यापार का यथाशक्ति त्याग करता हूँ। 'सामाइय' की ऐसी प्रतिष्ठा होने के कारण सातवीं सदी के सुप्रसिद्ध विद्वान् **जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण** ने

उस पर विशेषावश्यकभाष्य नामक अति विस्तृत ग्रन्थ लिखकर बतलाया है कि धर्म के अंगभूत श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र ये तीनों ही सामाइय हैं।

सच्ची वीरता के विषय में जैनधर्म, गीता और गांधीजी–

सांख्य, योग और भागवत जैसी अन्य परंपराओं में पूर्वकाल से साम्यदृष्टि की जो प्रतिष्ठा थी उसी का आधार लेकर भगवद्गीताकार ने गीता की रचना की है। यही कारण है कि हम गीता में स्थान–स्थान पर समदर्शी, साम्य, समता जैसे शब्दों के द्वारा साम्यदृष्टि का ही समर्थन पाते हैं। गीता और आचारांग की साम्य भावना मूल में एक ही है, फिर भी वह परंपराभेद से अन्यान्य भावनाओं के साथ मिलकर भिन्न हो गई है। अर्जुन को साम्य भावना के प्रबल आवेग के समय भी भैक्ष्य जीवन स्वीकार करने से गीता रोकती है और शस्त्रयुद्ध का आदेश करती है, जब कि आचारांग सूत्र अर्जुन को ऐसा आदेश न करके यही कहेगा कि **अगर तुम सचमुच क्षत्रिय वीर हो तो साम्यदृष्टि आने पर हिंसक शस्त्रयुद्ध नहीं कर सकते बल्कि भैक्ष्यजीवनपूर्वक आध्यात्मिक शत्रु के साथ युद्ध के द्वारा ही सच्चा क्षत्रियत्व सिद्ध कर सकते हो।** (आचारांग १–५–३) **इस कथन की द्योतक भरत–बाहुबली की कथा जैन साहित्य में प्रसिद्ध है, जिसमें कहा गया है कि सहोदर भरत के द्वारा उग्र प्रहार पाने के बाद बाहुबली ने जब प्रतिकार के लिए हाथ उठाया तभी समभाव की वृत्ति प्रकट हुई। उस वृत्ति के आवेग में बाहुबली ने भैक्ष्य जीवन स्वीकार किया पर प्रतिप्रहार करके न तो भरत का बदला चुकाया और न उससे अपना न्यायोचित राज्यभाग लेने का सोचा।** गांधीजी ने गीता और आचारांग आदि में प्रतिपादित साम्य भाव को अपने जीवन में यथार्थ रूप से विकसित किया और उसके बल पर कहा कि **मानवसंहारक युद्ध तो छोड़ो, पर साम्य या चित्तशुद्दि के बल पर ही अन्याय के प्रतिकार का मार्ग भी ग्रहण करो। पुराने संन्यास या त्यागी जीवन का ऐसा अर्थ विकास गांधीजी ने समाज में प्रतिष्ठित किया है।**

साम्यदृष्टि और अनेकान्तवाद

जैन परंपरा का साम्य दृष्टि पर इतना अधिक भार है कि उसने साम्य दृष्टि को ही ब्राह्मण परंपरा में लब्धप्रतिष्ठ ब्रह्म कहकर साम्यदृष्टिपोषक सारे आचार विचार

को 'ब्रह्मचर्य' – 'बम्भचेराई' कहा है, जैसा कि बौद्ध परंपरा ने मैत्री आदि भावनाओं को ब्रह्मविहार कहा है । इतना ही नहीं पर धम्मपद (ब्राह्मण वर्ग २६) और शांति पर्व की तरह जैन ग्रन्थ (उत्तराध्ययन २५) में भी समत्व धारण करनेवाले श्रमण को ही ब्राह्मण कहकर श्रमण और ब्राह्मण के बीच का अंतर मिटाने का प्रयत्न किया है।

साम्यदृष्टि जैन परम्परा में मुख्यतया दो प्रकार से व्यक्त हुई है– (१) आचार में और (२) विचार में । जैन धर्म का बाह्य–आभ्यन्तर, स्थूल–सूक्ष्म सब आचार साम्य दृष्टि मूलक अहिंसा के केन्द्र के आसपास ही निर्मित हुआ है। जिस आचार के द्वारा अहिंसा की रक्षा और पुष्टि न होती हो ऐसे किसी भी आचार को जैन परम्परा मान्य नहीं रखती । यद्यपि सब धार्मिक परम्पराओं ने अहिंसा तत्त्व पर न्यूनाधिक भार दिया है, पर जैन परंपराने उस तत्त्व पर जितना भार दिया है और उसे जितना व्यापक बनाया है, उतना भार और उतनी व्यापकता अन्य धर्म परंपरा में देखी नही जाती। मनुष्य, पशु–पक्षी कीट–पतंग, और वनस्पति ही नहीं बल्कि पार्थिव जलीय आदि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जंतुओं तक की हिंसा से आत्मौपम्य की भावना द्वारा निवृत्त होने के लिए कहा गया है।

विचार में साम्य दृष्टि की भावना पर जो भार दिया गया है उसी में अनेकान्त दृष्टि या विभज्यवाद का जन्म हुआ है। केवल अपनी दृष्टि या विचारसरणी को ही पूर्ण अन्तिम सत्य मानकर उस पर आग्रह रखना यह साम्य दृष्टि के लिए घातक है। इसलिए कहा गया है कि दूसरों की दृष्टि का भी उतना ही आदर करना जितना अपनी दृष्टि का। **यही साम्य दृष्टि अनेकान्तवाद की भूमिका है। इस भूमिका में से ही भाषा प्रधान स्याद्वाद और विचारप्रधान नयवाद का क्रमशः विकास हुआ है।** यह नहीं है कि अन्यान्य परंपराओं में अनेकान्त दृष्टि का स्थान ही न हो। मीमांसक और कपिल दर्शन के उपरांत न्याय दर्शन में भी अनेकान्तवाद का स्थान है। बुद्ध भगवान् का विभज्यवाद और मध्यममार्ग भी अनेकान्त दृष्टि के ही फल हैं, फिर भी जैन परम्परा ने जैसे अहिंसा पर अत्यधिक भार दिया है वैसे ही उसने अनेकान्त दृष्टि पर भी अत्यधिक भार दिया है। इसलिए **जैन परंपरा में आचार या विचार का कोई भी विषय ऐसा नहीं है जिसपर अनेकान्त दृष्टि लागू न की गयी हो या जो अनेकान्त दृष्टि की मर्यादा से बाहर हो।** यही कारण है कि अन्यान्य परंपराओं के विद्वानों ने अनेकान्त दृष्टि को मानते हुए भी उसपर स्वतंत्र

साहित्य रचा नहीं है, जब कि जैन परंपरा के विद्वानों ने उसके अंगभूत स्याद्वाद, नयवाद आदि के बोधक और समर्थक विपुल स्वतंत्र साहित्य का निर्माण किया है।

अहिंसा

हिंसा से निवृत्त होना ही अहिंसा है। यह विचार तब तक पूरा समझ में आ नही सकता जब तक यह न बतलाया जाय कि, हिंसा किस की होती है तथा हिंसा कौन व किस कारण से करता है और उसका परिणाम क्या है। इसी प्रश्न को स्पष्ट समझाने की दृष्टि से **मुख्यतया चार विद्याएँ जैन परंपरा में फलित हुईं हैं - (१) आत्मविद्या (२) कर्मविद्या (३) चरित्रविद्या और (४) लोकविद्या। इसी तरह अनेकांत दृष्टि के द्वारा मुख्यतया श्रुत विद्या और प्रमाण विद्या का निर्माण व पोषण हुआ है। इस प्रकार अहिंसा, अनेकांत और तन्मूलक विद्याएँ ही जैन धर्म का प्राण है** जिसपर आगे संक्षेप में विचार किया जाता है।

आत्मविद्या और उत्क्रांतिवाद

प्रत्येक आत्मा चाहे वह पृथ्वीगत, जलगत या वनस्पतिगत हो या **कीट-पतंग पशु-पक्षी रूप हो या मानव रूप हो यह सब तात्त्विक दृष्टि से समान है। यही जैन आत्मविद्या का सार है** (सर्वात्म में समदृष्टि दो - श्रीमद् राजचन्द्र)। समानता के इस सैद्धांतिक विचार को अमल में लाना - उसे यथासंभव जीवन के व्यवहार के प्रत्येक क्षेत्र में उतारने का अप्रमत्त भाव से प्रयत्न करना यही अहिंसा है। आत्मविद्या कहती है कि यदि जीवन- व्यवहार में साम्य का अनुभव न हो तो आत्मसाम्य का सिद्धान्त कोरा वाद मात्र है। समानता के सिद्धान्त को असली बनाने के लिए ही आचारांग सूत्र के अध्ययन में कहा गया है कि जैसे तुम अपने दुःख का अनुभव करते हो वैसा ही पर दुःख का अनुभव करो। अर्थात् अन्य के दुःख का आत्मीय दुःख रूप से संवेदन न हो तो अहिंसा सिद्ध होना संभव नहीं।

जैसे आत्म समानता के तात्त्विक विचार में से अहिंसा के आचार का समर्थन किया गया है वैसे ही उसी विचार में से जैन परम्परा में यह भी आध्यात्मिक मंतव्य फलित हुआ है कि जीवगत शारीरिक, मानसिक आदि वैषम्य कितना ही क्यों न हो पर आगंतुक है - कर्ममूलक है, वास्तविक नहीं है। अतएव क्षुद्र से क्षुद्र अवस्था में पड़ा हुआ जीव भी कभी मानवकोटि में आ सकता है और मानव कोटिगत जीव भी

क्षुद्रतम वनस्पति अवस्था में जा सकता है; इतना ही नहीं बल्कि वनस्पति जीव विकास के द्वारा मनुष्य की तरह कभी सर्वथा बंधनमुक्त हो सकता है। ऊंच-नीच गति या योनि का एवं सर्वथा मुक्ति का आधार एक मात्र कर्म है। जैसा कर्म, जैसा संस्कार या जैसी वासना वैसी ही आत्मा की अवस्था, पर **तात्त्विक रूप से सब आत्माओं का स्वरूप सर्वथा एक-सा है जो नैष्कर्म्य अवस्था में पूर्ण रूप से प्रकट होता है। यही आत्मसाम्यमूलक उत्क्रान्तिवाद है।**

सांख्य, योग, बौद्ध आदि द्वैतवादी अहिंसा समर्थक परम्पराओं का और और बातों में जैन परम्परा के साथ जो कुछ मतभेद हो पर अहिंसाप्रधान आचार तथा उत्क्रान्तिवाद के विषय में सब का पूर्ण ऐकमत्य है। **आत्माद्वैतवादी औपनिषद परम्परा अहिंसा का समर्थन समानता के सिद्धान्त पर नहीं पर अद्वैत के सिद्धान्त पर करती है।** वह कहती है **कि तत्त्व रूप से जैसे तुम वैसे ही अन्य सभी जीव शुद्ध ब्रह्म – एक ब्रह्मरूप हैं।** जो जीवों का पारस्पारिक भेद देखा जाता है वह वास्तविक न होकर अविद्यामूलक है। **इसलिए अन्य जीवों को अपने से अभिन्न ही समझना चाहिए और अन्य के दुःख को अपना दुःख समझ कर हिंसा से निवृत्त होना चाहिए।**

द्वैतवादी जैन आदि परम्पराओं के और अद्वैतवादी परम्परा के बीच अंतर केवल इतना ही है कि पहली परंपराएँ प्रत्येक जीवात्मा का वास्तविक भेद मान कर भी उन सब में तात्त्विक रूप से समानता स्वीकार करके अहिंसा का उद्बोधन करती हैं, जब कि अद्वैत परंपरा जीवात्माओं के पारस्परिक भेद को ही मिथ्या मानकर उनमें तात्त्विक रूप से पूर्ण अभेद मानकर उसके आधारपर अहिंसा का उद्बोधन करती हैं। अद्वैत परम्परा के अनुसार भिन्न-भिन्न योनि और भिन्न-भिन्न गतिवाले जीवों में दिखाई देनेवाले भेद का मूल अधिष्ठान एक शुद्ध अखंड ब्रह्म हैं, जब कि जैन जैसी द्वैतवादी परम्पराओं के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा तत्त्व रूप से स्वतंत्र और शुद्ध ब्रह्म है। एक परम्परा के अनुसार अखंड एक ब्रह्म में से नानाजीव की सृष्टि हुई है जब कि दूसरी परम्पराओं के अनुसार जुदे-जुदे स्वतंत्र और समान अनेक शुद्ध ब्रह्म ही अनेक जीव हैं। द्वैतमूलक समानता के सिद्धान्त में से ही अद्वैतमूलक ऐक्य का सिद्धान्त क्रमशः विकसित हुआ जान पड़ता है परन्तु अहिंसा का आचार और आध्यात्मिक उत्क्रान्तिवाद अद्वैतवाद में भी द्वैतवाद के विचार के अनुसार ही घटाया गया है। **वाद कोई भी हो पर अहिंसा की दृष्टि से महत्त्व की बात एक**

ही है कि अन्य जीवों के साथ समानता या अभेद का वास्तविक संवेदन होना ही अहिंसा की भावना का उद्गम है।

कर्मविद्या और बंध–मोक्ष

जब तत्त्वतः सब जीवात्मा समान हैं तो फिर उनमें परस्पर वैषम्य क्यों, तथा एक ही जीवात्मा में काल भेद से वैषम्य क्यों? इस प्रश्न के उत्तर में से ही कर्मविद्या का जन्म हुआ है। जैसा कर्म वैसी अवस्था यह मान्यता वैषम्य का स्पष्टीकरण तो कर देती है, पर साथ ही साथ यह भी कहती है कि अच्छा या बुरा कर्म करने एवं न करने में जीव ही स्वतंत्र है, जैसा वह चाहे वैसा सत् या असत् पुरुषार्थ कर सकता है और वही अपने वर्तमान और भावी का निर्माता है। **कर्मवाद कहता है कि वर्तमान का निर्माण भूत के आधार पर और भविष्य का निर्माण वर्तमान के आधार पर होता है। तीनों काल की पारस्परिक संगति कर्मवाद पर ही अवलंबित है। यही पुनर्जन्म के विचार का आधार है।**

वस्तुतः अज्ञान और राग–द्वेष ही कर्म है। अपने पराये की वास्तविक प्रतीति न होना अज्ञान या जैन परम्परा के अनुसार दर्शन मोह है। इसी को सांख्य, बौद्ध आदि अन्य परम्पराओं मे अविद्या कहा है। अज्ञान–जनित इष्टानिष्ट की कल्पनाओं के कारण जो–जो वृत्तियाँ, या जो–जो विकार पैदा होते हैं वही संक्षेप में राग–द्वेष कहे गए हैं। यद्यपि राग–द्वेष ही हिंसा के प्रेरक हैं पर वस्तुतः सब **की जड़ अज्ञान–दर्शन मोह या अविद्या ही है, इसलिए हिंसा की असली जड़ अज्ञान ही है।** इस विषय में आत्मवादी सब परंपराएँ एकमत हैं।

ऊपर जो कर्म का स्वरूप बतलाया है वह जैन परिभाषा में भाव कर्म है और वह आत्मगत संस्कार विशेष है। यह भावकर्म आत्मा के इर्दगिर्द सदा वर्तमान ऐसे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भौतिक परमाणुओं को आकृष्ट करता है और उसे विशिष्ट रूप अर्पित करता है। विशिष्ट रूप प्राप्त यह भौतिक परमाणु पुंज ही द्रव्यकर्म या कार्मण शरीर कहलाता है जो जन्मान्तर में जीव के साथ जाता है और स्थूल शरीर के निर्माण की भूमिका बनता है। ऊपर–ऊपर से देखने पर मालूम होता है कि द्रव्यकर्म का विचार जैन परंपरा की कर्मविद्या में है, पर अन्य परंपरा की कर्मविद्या में वह नहीं है, परन्तु सूक्ष्मता से देखने वाला जान सकता है कि वस्तुतः ऐसा नहीं है। साँख्य-योग,

वेदान्त आदि परंपराओं में जन्मजन्मान्तरगामी सूक्ष्म या लिंग शरीर का वर्णन है। यह शरीर अन्तःकरण, अभिमान मन आदि प्राकृत या मायिक तत्त्वों का बना हुआ माना गया है जो वास्तव में जैन परंपरासंमत भौतिक कार्मण शरीर के ही स्थान में है। सूक्ष्म या कार्मण शरीर की मूल कल्पना एक ही है। अन्तर है तो उसके वर्णन प्रकार में और न्यूनाधिक विस्तार में एवं वर्गीकरण में, जो हजारों वर्ष से जुदा-जुदा विचार-चिंतन करने वाली परंपराओं में होना स्वाभाविक है । इस तरह हम देखते हैं तो **आत्मवादी सब परंपराओं मे पुनर्जन्म के कारणरूप से कर्मतत्त्व का स्वीकार है और जन्मजन्मान्तरगामी भौतिक शरीररूप द्रव्यकर्म का भी स्वीकार है।** न्याय वैशेषिक परंपरा जिसमें ऐसे सूक्ष्म शरीर का कोई खास स्वीकार नहीं है उसने भी जन्मजन्मान्तरगामी अणुरूप मन को स्वीकार करके द्रव्य कर्म के विचार को अपनाया है।

पुनर्जन्म और कर्म की मान्यता के बाद जब मोक्ष की कल्पना भी तत्त्वचिंतन में स्थिर हुई तब से अभी तक की बंध-मोक्षवादी भारतीय तत्त्वचिंतकों की आत्मस्वरूप-विषयक मान्यताएँ कैसी-कैसी हैं और उनमें विकासक्रम की दृष्टि से जैन मन्तव्य के स्वरूप का क्या स्थान है, इसे समझने के लिए संक्षेप में बंधमोक्षवादी मुख्य-मुख्य सभी परंपराओं के मन्तव्यों को नीचे दिया जाता है। **(१) जैन परंपरा के अनुसार आत्मा प्रत्येक शरीर में जुदा-जुदा है। वह स्वयं शुभाशुभ कर्म का कर्ता और कर्म के फल-सुख-दुःख आदि का भोक्ता है।** वह जन्मान्तर के समय स्थानान्तर को जाता है और स्थूल देह के अनुसार संकोच विस्तार धारण करता है। यही मुक्ति पाता है और मुक्तिकाल में सांसारिक सुख-दुःख ज्ञान-अज्ञान आदि शुभाशुभ कर्म आदि भावों से सर्वथा छूट जाता है ।

(२) सांख्य योग परंपरा के अनुसार आत्मा भिन्न-भिन्न है पर वह कूटस्थ एवं व्यापक होने से न कर्म का कर्ता, भोक्ता, जन्मान्तरगामी, गतिशील है और न तो मुक्तिगामी ही है । उस परंपरा के अनुसार तो प्राकृत बुद्धि या अन्तः करण ही कर्म का कर्ता भोक्ता जन्मान्तरगामी संकोच विस्तारशील, ज्ञान-अज्ञान आदि भावों का आश्रय और मुक्ति-काल में उन भावों से रहित है। सांख्य योग परंपरा अन्तःकरण के बंधमोक्ष को ही उपचार से पुरुष मान लेती है ।

(३) न्यायवैशेषिक परंपरा के अनुसार आत्मा अनेक हैं, वह सांख्य योग की तरह कूटस्थ और व्यापक माना गया है फिर भी वह जैन परंपरा की तरह वास्तविक रूप से कर्ता, भोक्ता, बद्ध और मुक्त भी माना गया है।

(४) अद्वैतवादी वेदान्त के अनुसार आत्मा वास्तव में नाना नहीं पर एक ही है। वह सांख्य योग की तरह कूटस्थ और व्यापक है अत एव न तो वास्तव में बद्ध है और न मुक्त। उसमें अन्तःकरण का बंधमोक्ष ही उपचार से माना गया है।

(५) बौद्धमत के अनुसार आत्मा या चित्त नाना है; वही कर्ता, भोक्ता, बंध और निर्वाण का आश्रय है। वह न तो कूटस्थ है, न व्यापक, वह केवल ज्ञानक्षणपरंपरा रूप है जो हृदय इन्द्रिय जैसे अनेक केन्द्रों में एक साथ या क्रमशः निमित्तानुसार उत्पन्न व नष्ट होता रहता है।

ऊपर के संक्षिप्त वर्णन से यह स्पष्टतया सूचित होता है कि जैन परंपरा संमत आत्मस्वरूप बंधमोक्ष के तत्त्वचिंतकों की कल्पना का अनुभवमूलक पुराना रूप है। सांख्ययोग संमत आत्मस्वरूप उन तत्त्वचिंतकों की कल्पना की दूसरी भूमिका है। अद्वैतवाद संमत आत्मस्वरूप सांख्ययोग की बहुत्वविषयक कल्पना का एक स्वरूप में परिमार्जनमात्र है, जब कि न्यायवैशेषिक संमत आत्मस्वरूप जैन और सांख्ययोग की कल्पना का मिश्रणमात्र है। बौद्ध संमत आत्मस्वरूप जैन कल्पना का ही तर्कशोधित रूप है।

एकत्वरूप चारित्रविद्या

आत्मा और कर्म के स्वरूप को जानने के बाद ही यह जाना जा सकता है कि आध्यात्मिक उत्क्रान्ति में चारित्र का क्या स्थान है। मोक्षतत्त्वचिंतकों के अनुसार चारित्र का उद्देश्य आत्मा को कर्म से मुक्त करना ही है। चारित्र के द्वारा कर्म से मुक्ति मान लेने पर भी यह प्रश्न रहता ही है कि **स्वभाव से शुद्ध ऐसे आत्मा के साथ पहले-पहल कर्म का संबंध कब और क्यों हुआ या ऐसा संबंध किसने किया?** इसी तरह यह भी प्रश्न उपस्थित होता है कि स्वभाव से शुद्ध ऐसे आत्मतत्त्व के साथ यदि किसी न किसी तरह से कर्म का संबंध हुआ माना जाए तो **चारित्र के द्वारा मुक्ति सिद्ध होने के बाद भी फिर कर्म संबंध क्यों नहीं होगा?**

इन दो प्रश्नों का उत्तर आध्यात्मिक सभी चिंतकों ने लगभग एक सा ही दिया है। सांख्ययोग हो या वेदान्त, न्यायवैशेषिक हो या बौद्ध इन सभी दर्शनों की तरह जैन दर्शन का भी यही मंतव्य है कि **कर्म और आत्मा का संबंध अनादि है** क्योकि उस संबंध का आदिक्षण सर्वथा ज्ञानसीमा के बाहर है। सभी ने यह माना है कि आत्मा के साथ कर्म-अविद्या या माया का संबंध प्रवाह रूप से अनादि है फिर भी व्यक्ति रूप से वह संबंध सादि है क्योकि हम सबका ऐसा अनुभव है कि अज्ञान और राग-द्वेष से ही कर्मवासना की उत्पत्ति जीवन में होती रहती है। सर्वथा कर्म छूट जाने पर जो आत्मा का पूर्ण शुद्ध रूप प्रकट होता है उसमें पुनः कर्म या वासना उतपन्न क्यों नहीं होती इसका खुलासा तर्कवादी आध्यात्मिक चिंतकों ने यों किया है कि आत्मा स्वभावतः शुद्धि-पक्षपाती है । शुद्धि के द्वारा चेतना आदि स्वाभाविक गुणों का पूर्ण विकास होने के बाद अज्ञान या राग-द्वेष जैसे दोष जड़ से ही उच्छिन्न हो जाते हैं अर्थात् वे प्रयत्नपूर्वक शुद्धि को प्राप्त ऐसे आत्मतत्त्व में अपना स्थान पाने के लिए सर्वथा निर्बल हो जाते हैं।

चारित्र का कार्य जीवनगत वैषम्य के कारणों को दूर करना है, जो जैन परिभाषा में 'संवर' कहलाता है। वैषम्य के मूल कारण अज्ञान का निवारण आत्मा की सम्यक् प्रतीति से होता है और राग-द्वेष जैसे क्लेशों का निवारण माध्यस्थ्य की सिद्धि से। इसलिए आन्तर चारित्र में दो ही बातें आती हैं। (१) आत्म-ज्ञान-विवेक-ख्याति (२) माध्यस्थ्य या राग-द्वेष आदि क्लेशों का जय। ध्यान, व्रत, नियम, तप, आदि जो-जो उपाय आन्तर चारित्र के पोषक होते हैं वे ही बाह्य चारित्र रूप से साधक के लिए उपादेय माने गए हैं।

आध्यात्मिक जीवन की उत्क्रान्ति आन्तर चारित्र के विकासक्रम पर अवलंबित है। इस विकासक्रम का गुणस्थान रूप से जैन परम्परा में अत्यंत विशद और विस्तृत वर्णन है। आध्यात्मिक उत्क्रान्ति क्रम के जिज्ञासुओं के लिए योगशास्त्र प्रसिद्ध मधुमती आदि भूमिकाओं का, बौद्धशास्त्रप्रसिद्ध सोतापन्न आदि भूमिकाओं का, योगवासिष्ठप्रसिद्ध अज्ञान और ज्ञानभूमिकाओं का, आजीवक-परंपराप्रसिद्ध मंद-भूमि आदि भूमिकाओं का और जैन परंपरा प्रसिद्ध गुणस्थानों का तथा योग दृष्टियों का तुलनात्मक अध्ययन बहुत रसप्रद एवं उपयोगी है, जिसका वर्णन यहाँ संभव नहीं। जिज्ञासु अन्यत्र प्रसिद्ध लेखों से जान सकता है। (भारतीय दर्शनोमां आध्यात्मिक विकासक्रम - पुरातत्त्व १-पृ० १४६ ।)

मैं यहाँ उन चौदह गुणस्थानों का वर्णन न करके संक्षेप में तीन भूमिकाओं का ही परिचय दिये देता हूँ, जिनमें-गुणस्थानों का समावेश हो जाता है। पहली भूमिका है बहिरात्म, जिसमें आत्मज्ञान या विवेकख्याति का उदय ही नहीं होता। दूसरी भूमिका अन्तरात्म है, जिसमें आत्मज्ञान का उदय तो होता है पर राग-द्वेष आदि क्लेश मंद होकर भी अपना प्रभाव दिखलाते रहते हैं। तीसरी भूमिका है परमात्मा। इसमें राग-द्वेष का पूर्ण उच्छेद होकर वीतरागत्व प्रकट होता है।

लोकविद्या

लोकविद्या में लोक के स्वरूप का वर्णन है। जीव-चेतन और अजीव-अचेतन या जड़ इन दो तत्त्वों का सहचार ही लोक है। चेतन-अचेतन दोनों तत्त्व न तो किसी के द्वारा कभी पैदा हुए हैं और न कभी नाश पाते हैं फिर भी स्वभाव से परिणामान्तर पाते रहते हैं। संसार काल में चेतन के ऊपर अधिक प्रभाव डालनेवाला द्रव्य एक मात्र जड़-परमाणुपुंज पुद्गल है, जो नानारूप से चेतन के बंध में आता है और उसकी शक्तियों को मर्यादित भी करता है। चेतन तत्त्व की साहजिक और मौलिक शक्तियाँ ऐसी हैं जो योग्य दिशा पाकर कभी न कभी उन जड़ द्रव्यों के प्रभाव से उसे मुक्त भी कर देती हैं। जड़ और चेतन के पारस्परिक प्रभाव का क्षेत्र ही लोक है और उस प्रभाव से छुटकारा पाना ही लोकान्त है। जैन परंपरा की लोकक्षेत्र-विषयक कल्पना सांख्य-योग, पुराण और बौद्ध आदि परंपराओं की कलपना से अनेक अंशों में मिलती-जुलती है।

जैन परंपरा न्यायवैशेषिक की तरह परमाणुवादी है, सांख्ययोग की तरह प्रकृतिवादी नहीं है तथापि जैन परंपरा सम्मत परमाणु का स्वरूप सांख्य-परंपरा सम्मत प्रकृति के स्वरूप के साथ जैसा मिलता है वैसा न्यायवैशेषिकसम्मत परमाणु स्वरूप के साथ नहीं मिलता, क्योंकि जैन सम्मत परमाणु सांख्यसम्मत प्रकृति की तरह परिणामी है, न्यायवैशेषिक सम्मत परमाणु की तरह कूटस्थ नहीं है। इसीलिए जैसे एक ही सांख्यसंमत प्रकृति पृथ्वी, जल, तेज, वायु आदि अनेक भौतिक सृष्टियों का उपादान बनती है वैसे ही जैन सम्मत एक ही परमाणु पृथ्वी, जल, तेज आदि नानारूप में परिणत होता है। जैन परंपरा न्यायवैशेषिक की तरह यह नहीं मानती कि पार्थिव, जलीय आदि भौतिक परमाणु मूल में ही सदा भिन्न जातीय हैं। इसके सिवाय और भी एक अन्तर ध्यान देने योग्य है। वह यह कि जैनसम्मत परमाणु

वैशेषिक सम्मत परमाणु की अपेक्षा इतना अधिक सूक्ष्म है कि अन्त में वह सांख्यसम्मत प्रकृति जैसा ही अव्यक्त बन जाता है। जैन परंपरा का अनंत परमाणुवाद प्राचीन सांख्यसम्मत पुरुषबहुत्वानुरूप प्रकृति बहुत्वाद से दूर नहीं है।१

(१. षड्दर्शनसमुच्चय-गुणरत्नटीका - पृ०-६६-"मौलिकसांख्या हि आत्मानमात्मानं इति पृथक् प्रधानं वदन्ति। उत्तरे तु सांख्याः सर्वात्मस्वपि एकं नित्यं प्रधानमिति प्रपन्नाः।")

जैनमत और ईश्वर

जैन परंपरा सांख्ययोग मीमांसक आदि परंपराओं की तरह लोक को प्रवाह रूप से अनादि और अनंत ही मानती है। वह पौराणिक या वैशेषिक मत की तरह उसका सृष्टिसंहार नहीं मानती, अत एव जैन परंपरा में कर्ता संहर्ता रूप से ईश्वर जैसी स्वतंत्र व्यक्ति का कोई स्थान ही नहीं है। जैन सिद्धांत कहता है कि प्रत्येक जीव अपनी-अपनी सृष्टि का आप ही कर्ता है। उसके अनुसार तात्त्विक दृष्टि से प्रत्येक जीव में ईश्वर भाव है जो मुक्ति के समय प्रकट होता है। जिसका ईश्वर भाव प्रकट हुआ है वही साधारण लोगों के लिए उपास्य बनता है। योग शास्त्रसंमत ईश्वर भी मात्र उपास्य है, कर्ता संहर्ता नहीं, पर जैन और योगशास्त्र की कल्पना में अन्तर है। वह यह कि योगशास्त्र सम्मत ईश्वर सदा मुक्त होने के कारण अन्य पुरुषों से भिन्न कोटि का है; जब कि जैनशास्त्र संमत ईश्वर वैसा नहीं है। जैनशास्त्र कहता है कि प्रयत्न साध्य होने के कारण हर कोई योग्य साधक ईश्वरत्व लाभ करता है और सभी मुक्त समान भाव से ईश्वर रूप से उपास्य हैं।

श्रुतविद्या और प्रमाणविद्या

पुराने और अपने समय तक में ज्ञात ऐसे अन्य विचारकों के विचारों का तथा स्वानुभवमूलक अपने विचारों का सत्यलक्षी संग्रह ही श्रुतविद्या है। श्रुतविद्या का ध्येय यह है कि सत्यस्पर्शी किसी भी विचार या विचारसरणी की अवगणना या उपेक्षा न हो। इसी कारण से जैन परंपरा की श्रुतविद्या नव नव विद्याओं के विकास के साथ विकसित होती रही है। यही कारण है कि श्रुतविद्या में संग्रहनयरूप से जहाँ प्रथम सांख्यसम्मत सद्वैत लिया गया, वहीं ब्रह्माद्वैत के विचार विकास के बाद संग्रहनयरूप से ब्रह्माद्वैत विचार ने भी स्थान प्राप्त किया है। इसी तरह जहाँ ऋजुसूत्र

नयरूप से प्राचीन बौद्ध क्षणिकवाद संग्रहीत हुआ है वहीं आगे के महायानी विकास के बाद ऋजुसूत्र नयरूप से वैभाषिक, सौत्रान्तिक, विज्ञानवाद और शून्यवाद इन चारों प्रसिद्ध बौद्ध शाखाओं का संग्रह हुआ है।

अनेकान्त दृष्टि का कार्यप्रदेश इतना अधिक व्यापक है कि इसमें मानव जीवन की हितावह ऐसी सभी लौकिक लोकोत्तर विद्याएँ अपना-अपना योग्य स्थान प्राप्त कर लेती हैं। यही कारण है कि जैन श्रुतविद्या में लोकोत्तर विद्याओं के अलावा लौकिक विद्याओं ने भी स्थान प्राप्त किया है।

प्रमाणविद्या में प्रत्यक्ष, अनुमिति आदि ज्ञान के सब प्रकारों का, उनके साधनों का तथा उनके बलाबल का विस्तृत विवरण आता है। इसमें भी अनेकान्त दृष्टि का ऐसा उपयोग किया गया है कि जिससे किसी भी तत्त्वचिंतक के यथार्थ विचार की अवगणना या उपेक्षा नहीं होती, प्रत्युत ज्ञान और उसके साधन से संबंध रखने वाले सभी ज्ञान विचारों का यथावत् विनियोग किया गया है।

यहाँ तक का वर्णन जैन परंपरा के प्राणभूत अहिंसा और अनेकान्त से संबंध रखता है। जैसे शरीर के बिना प्राण की स्थिति असंभव है वैसे ही धर्मशरीर के सिवाय धर्म प्राण की स्थिति भी असंभव है। जैन परंपरा का धर्मशरीर भी संघरचना, साहित्य, तीर्थ, मन्दिर आदि धर्मस्थान, शिल्पस्थापत्य, उपासनाविधि, ग्रंथसंग्राहक भांडार आदि अनेक रूप से विद्यमान है। यद्यपि भारतीय संस्कृति की विरासत के अविकल अध्ययन की दृष्टि से जैनधर्म के ऊपर सूचित अंगों का तात्त्विक एवं ऐतिहासिक वर्णन आवश्यक एवं रसप्रद भी है तथापि वह प्रस्तुत निबंध की मर्यादा के बाहर है। अत एव जिज्ञासुओं को अन्य साधनों के द्वारा अपनी जिज्ञासा को तृप्त करना चाहिए। (ई० १६४६)

* * * * *

लेखांक ६

जैन संस्कृति का हृदय

संस्कृति का स्रोत

संस्कृति का स्रोत नदी के ऐसे प्रवाह के समान है जो अपने प्रभवस्थान से अन्त तक अनेक दूसरे छोटे-मोटे जल-स्रोतों से मिश्रित, परिवर्धित और परिवर्तित होकर अनेक दूसरे मिश्रणों से भी युक्त होता रहता है और उद्गम-स्थान में पाए जानेवाले रूप, स्पर्श, गन्ध तथा स्वाद आदि में कुछ-न-कुछ परिवर्तन भी प्राप्त करता रहता है। जैन कहलाने वाली संस्कृति भी उस संस्कृति-सामान्य के नियम का अपवाद नहीं है। जिस संस्कृति को आज हम जैन-संस्कृति के नाम से पहचानते हैं उसके सर्वप्रथम, आविर्भावक कौन थे और उनसे वह पहिले-पहल किस स्वरूप में उद्गत हुई इसका पूरा-पूरा सही वर्णन करना इतिहास की सीमा के बाहर है। फिर भी उस पुरातन प्रवाह का जो और जैसा स्रोत हमारे सामने है तथा वह जिन आधारों के पट पर बहता चला आया है, उस स्रोत तथा उन साधनों के ऊपर विचार करते हुए हम जैन-संस्कृति का हृदय थोडा-बहुत पहिचान पाते हैं।

जैन-संस्कृति के दो रूप

जैन-संस्कृति के भी, दूसरी संस्कृतियों की तरह, दो रूप हैं। एक बाह्य और दूसरा आन्तर। बाह्य रूप वह है जिसे उस संस्कृति के अलावा दूसरे लोक भी आंख, कान आदि बाह्य इन्द्रियों से जान सकते हैं। पर संस्कृति का आन्तर स्वरूप ऐसा नहीं होता। क्योंकि किसी भी संस्कृति के आन्तर स्वरूप का साक्षात् आकलन तो सिर्फ उसी को होता है जो उसे अपने जीवन में तन्मय कर ले। दूसरे लोग उसे जानना चाहें तो साक्षात् दर्शन कर नहीं सकते। पर उस आन्तर संस्कृतिमय जीवन बीतानेवाले

पुरुष या पुरुषों के जीवन-व्यवहारों से तथा आसपास के वातावरण पर पड़नेवाले उनके असरों से वे किसी भी आन्तर संस्कृति का अन्दाज़ा लगा सकते हैं। यहां मुझे मुख्यतया जैन-संस्कृति के उस आन्तर रूप का या हृदय का ही परिचय देना है, जो बहुधा अभ्यासजनित कल्पना तथा अनुमान पर ही निर्भर है।

जैन संस्कृति के बाहरी स्वरूप में, अन्य संस्कृतियों के बाहरी स्वरूप की तरह अनेक वस्तुओं का समावेश होता है । शास्त्र, उसकी भाषा, मन्दिर, उसका स्थापत्य, मूर्ति-विधान, उपासना के प्रकार, उसमें काम आनेवाले उपकरण तथा द्रव्य, समाज के खानपान के नियम, उत्सव, त्यौहार आदि अनेक विषयों का जैन समाज के साथ एक निराला संबंध है और प्रत्येक विषय अपना खास इतिहास भी रखता है। ये सभी बातें बाह्यसंस्कृति की अंग हैं पर यह कोई नियम नहीं है कि जहाँ-जहाँ और जब ये तथा ऐसे दूसरे अंग मौजूद हो वहाँ और तब उसका हृदय भी अवश्य होना ही चाहिए। बाह्य अंगों के होते हुए भी कभी हृदय नहीं रहता और बाह्य अंगों के अभाव में भी संस्कृति का हृदय संभव है। इस दृष्टि को सामने रखकर विचार करनेवाला कोई भी व्यक्ति भलीभांति समझ सकेगा कि जैन-संस्कृति का हृदय, जिसका वर्णन में यहाँ करने जा रहा हूं वह केवल जैन समाजजात और जैन कहलाने वाले व्यक्तियों में ही संभव है ऐसी कोई बात नहीं है। सामान्य लोग जिन्हें जैन समझते हैं, या जो अपने को जैन कहते हैं, उनमें अगर आन्तरिक योग्यता न हो तो वह हृदय संभव नहीं और जैन नहीं कहलानेवाले व्यक्तियों में भी अगर वास्तविक योग्यता हो तो वह हृदय संभव है। इस तरह जब संस्कृति का बाह्य रूप समाज तक ही सीमित होने के कारण अन्य समाज में सुलभ नहीं होता तब संस्कृति का हृदय उस समाज के अनुयायियों की तरह इतर समाज के अनुयायियों में भी संभव होता है। सच तो यह है कि संस्कृति का हृदय या उसकी आत्मा इतनी व्यापक और स्वतन्त्र होती है कि उसे देश, काल, जात-पाँत, भाषा और रीति-रस्म आदि न तो सीमित कर सकते हैं और न अपने साथ बांध सकते हैं।

जैन-संस्कृति का हृदय-निवर्त्तक धर्म

अब प्रश्न यह है कि जैन-संस्कृति का हृदय क्या चीज है ? इसका संक्षिप्त जवाब तो यही है कि निवर्त्तक धर्म जैन संस्कृति की आत्मा है । जो धर्म निवृत्ति कराने वाला अर्थात् पुनर्जन्म के चक्र का नाश करानेवाला हो या उस निवृत्ति के

साधन रूप से जिस धर्म का आविर्भाव, विकास और प्रचार हुआ हो वह निवर्त्तक धर्म कहलाता है। इसका असली अर्थ समझने के लिए हमें प्राचीन किन्तु समकालीन इतर धर्म-स्वरूपों के बारे में थोड़ा सा विचार करना होगा।

धर्मों का वर्गीकरण

इस समय जितने भी धर्म दुनियां में जीवित हैं या जिनका थोडा-बहुत इतिहास मिलता है, इन सब के आन्तरिक स्वरूप का अगर वर्गीकरण किया जाय तो वह मुख्यतया तीन भागों में विभाजित होता है:-

१ - पहला वह है, जो मौजूदा जन्म का ही विचार करता है।

२ - दूसरा वह है जो मौजूदा जन्म के अलावा जन्मान्तर का भी विचार करता है।

३ - तीसरा वह है जो जन्म जन्मान्तर के उपरान्त उसके नाश का या उच्छेद का भी विचार करता है।

अनात्मवाद

आज की तरह बहुत पुराने समय में भी ऐसे विचारक लोग थे जो वर्तमान जीवन में प्राप्त होनेवाले सुख से उस पार किसी अन्य सुख की कल्पना से न तो प्रेरित होते थे और न उसके साधनों की खोज में समय बिताना ठीक समझते थे। उनका ध्येय वर्तमान जीवन का सुख-भोग ही था। और वे इसी ध्येय की पूर्ति के लिए सब साधन जुटाते थे। वे समझते थे कि हम जो कुछ हैं वह इसी जन्म तक हैं और मृत्यु के बाद हम फिर जन्म ले नहीं सकते। बहुत हुआ तो हमारे पुनर्जन्म का अर्थ हमारी सन्तति का चालू रहना है। अत एव हम जो अच्छा करेंगे उसका फल इस जन्म के बाद भोगने के वास्ते हमें उत्पन्न होना नहीं है। हमारे किये का फल हमारी सन्तान या हमारा समाज भोग सकता है। इसे पुनर्जन्म कहना हो तो हमें कोई आपत्ति नहीं। ऐसा विचार करने वाले वर्ग को हमारे प्राचीनतम शास्त्रों में भी अनात्मवादी या नास्तिक कहा गया है। वही वर्ग कभी आगे जाकर चार्वाक कहलाने लगा। इस वर्ग की दृष्टि में साध्य-पुरुषार्थ एक मात्र काम अर्थात् सुख-भोग ही है। उसके साधन रूप से वह वर्ग धर्म की कल्पना नहीं करता या धर्म नाम से तरह-तरह के विधि-विधानों पर

विचार नहीं करता। अत एव इस वर्ग को एक मात्र काम-पुरुषार्थी या बहुत हुआ तो काम और अर्थ उभयपुरुषार्थी कह सकते हैं।

प्रवर्त्तक-धर्म

दूसरा विचारक वर्ग शारीरिक जीवनगत सुख को साध्य तो मानता है पर वह मानता है कि जैसा मौजूदा जन्म में सुख संभव है वैसे ही प्राणी मर कर फिर पुनर्जन्म ग्रहण करता है और इस तरह जन्मजन्मान्तर में शारीरिक-मानसिक सुखों के प्रकर्ष-अपकर्ष की श्रृंखला चल रही है। जैसे इस जन्म में वैसे ही जन्मान्तर में भी हमें सुखी होना हो, या अधिक सुख पाना हो, तो इसके वास्ते हमें धर्मानुष्ठान भी करना होगा। अर्थोपार्जन आदि साधन वर्तमान जन्म में उपकारक भले ही हों, पर जन्मान्तर के उच्च और उच्चतर सुख के लिए हमें धर्मानुष्ठान अवश्य करना होगा। ऐसी विचार-सरणी वाले लोग तरह-तरह के धर्मानुष्ठान करते थे और उसके द्वारा परलोक तथा लोकान्तर के उच्च सुख पाने की श्रद्धा भी रखते थे। यह वर्ग आत्मवादी और पुनर्जन्मवादी तो है ही पर उसकी कल्पना जनम-जन्मान्तर में अधिकाधिक सुख पाने की तथा प्राप्त सुख को अधिक-से-अधिक समय तक स्थिर रखने की होने से उसके धर्मानुष्ठानों को प्रवर्तक-धर्म कहा गया है। प्रवर्तक धर्म का संक्षेप में सार यह है कि जो और जैसी समाज व्यवस्था हो उसे इस तरह नियम और कर्तव्य-बद्ध बनाना कि जिससे समाज का प्रत्येक सभ्य अपनी-अपनी स्थिति और कक्षा में सुख लाभ करे और साथ ही ऐसे जन्मान्तर की तैयारी करे कि जिससे दूसरे जन्म में भी वह वर्तमान जन्म की अपेक्षा अधिक और स्थायी सुख पा से। प्रवर्तक-धर्म का उद्देश्य समाज व्यवस्था के साथ-साथ जन्मान्तर का सुधार करना है, न कि जन्मान्तर का उच्छेद। प्रवर्तक धर्म के अनुसार काम, अर्थ और धर्म, तीन पुरुषार्थ हैं। उसमें मोक्ष नामक चौथे पुरुषार्थ की कोई कल्पना नहीं है। प्राचीन ईरानी आर्य जो अवस्ता को धर्मग्रन्थ मानते थे और प्राचीन वैदिक आर्य जो मन्त्र और ब्राह्मणरूप वेद भाग को ही मानते थे, वे सब उक्त प्रवर्तक-धर्म के अनुयायी हैं। आगे जाकर वैदिक दर्शनों में जो मीमांसा-दर्शन नाम से कर्मकाण्डी दर्शन प्रसिद्ध हुआ वह प्रवर्तक-धर्म का जीवित रूप है।

निवर्तक धर्म

निवर्तक धर्म ऊपर सूचित प्रवर्तक धर्म का बिलकुल विरोधी है। जो विचारक इस लोक के उपरान्त लोकान्तर और जन्मान्तर मानने के साथ-साथ उस जन्मचक्र को धारण करनेवाली आत्मा को प्रवर्तक-धर्मवादियों की तरह तो मानते ही थे; पर साथ ही वे जन्मान्तर में प्राप्य उच्च, उच्चतर और चिरस्थायी सुख से सन्तुष्ट न थे उनकी दृष्टि यह थी कि इस जन्म या जन्मान्तर में कितना ही ऊँचा सुख क्यों न मिले, वह कितने ही दीर्घ काल तक क्यों न स्थिर रहे पर अगर वह सुख कभी न कभी नाश पानेवाला है तो फिर वह उच्च और चिरस्थायी सुख भी अंत में निकृष्ट सुख की कोटि का होने से उपादेय हो नहीं सकता। वे लोग ऐसे किसी सुख की खोज में थे जो एक बार प्राप्त होने के बाद कभी नष्ट न हो। इस खोज की सूझ ने उन्हें मोक्ष पुरुषार्थ मानने के लिए बाधित किया। वे मानने लगे कि एक ऐसी भी आत्मा की स्थिति संभव है जिसे पाने के बाद फिर कभी जन्म-जन्मान्तर या देह-धारण करना नहीं पड़ता। वे आत्मा की उस स्थिति को मोक्ष या जन्म निवृत्ति कहते थे। प्रवर्तक-धर्मानुयायी जिन उच्च और उच्चतर धार्मिक अनुष्ठानों से इस लोक तथा परलोक के उत्कृष्ट सुखों के लिए प्रयत्न करते थे उन धार्मिक अनुष्ठानों को निवर्तक-धर्मानुयायी अपने साध्य मोक्ष या निवृत्ति के लिए न केवल अपर्याप्त ही समझते बल्कि वे उन्हें मोक्ष पाने में बाधक समझकर उन सब धार्मिक अनुष्ठानों को आत्यन्तिक हेय बतलाते थे। उद्देश्य और दृष्टि में पूर्व पश्चम जितना अन्तर होने से प्रवर्तक-धर्मानुयायियों के लिए जो उपादेय वही निवर्तक-धर्मानुयायियों के लिए हेय बन गया। यद्यपि मोक्ष के लिए प्रवर्तक-धर्म बाधक माना गया पर साथ ही मोक्षवादियों को अपने साध्य मोक्ष-पुरुषार्थ के उपाय रूप से किसी सुनिश्चित मार्ग की खोज करना भी अनिवार्य रूप से प्राप्त था। इस खोज की सूझ ने उन्हें एक ऐसा मार्ग, एक ऐसा उपाय सुझाया जो किसी बाहरी साधन पर निर्भर न था। वह एकमात्र साधक की अपनी विचार शुद्धि और वर्तन शुद्धि पर अवलंबित था। यही विचार और वर्तन की आत्यन्तिक शुद्धि का मार्ग निवर्तक धर्म के नाम से या मोक्ष-मार्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हम भारतीय संस्कृति के विचित्र और विविध ताने-बाने की जांच करते हैं तब हमें स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि भारतीय आत्मवादी दर्शनों में कर्मकाण्डी मीमांसक के अलावा सभी निवर्तक धर्मवादी हैं। अवैदिक माने जानेवाले बौद्ध और जैन दर्शन की संस्कृति तो मूल में निवर्तक-धर्म स्वरूप है ही पर वैदिक समझे

जानेवाले न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग तथा औपनिषद दर्शन की आत्मा भी निवर्तक-धर्म पर ही प्रतिष्ठित है। वैदिक हो या अवैदिक ये सभी निवर्तक-धर्म प्रवर्तक-धर्म को या यज्ञयागादि अनुष्ठानों को अन्त में हेय ही बतलाते हैं। और वे सभी सम्यक्-ज्ञान या आत्म-ज्ञान को तथा आत्म-ज्ञान मूलक अनासक्त जीवन व्यवहार को उपादेय मानते हैं । एवं उसी के द्वारा पुनर्जन्म के चक्र से छुट्टी पाना संभव बतलाते हैं।

समाजगामी प्रवर्तक-धर्म

ऊपर सूचित किया जा चुका है कि प्रवर्तक-धर्म समाजगामी था। इसका मतलब यह था कि प्रत्येक व्यक्ति समाज में रहकर ही सामाजिक कर्तव्य जो ऐहिक जीवन से संबंध रखते हैं और धार्मिक कर्तव्य जो पारलौकिक जीवन से संबंध रखते हैं, उनका पालन करे। प्रत्येक व्यक्ति जन्म से ही ऋषि-ऋण अर्थात् विद्याध्ययन आदि, पितृ-ऋण अर्थात् संतति-जननादि और देव-ऋण अर्थात् यज्ञयागादि बन्धनों से आबद्ध है। व्यक्ति को सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों का पालन करके अपनी कृपण इच्छा का संशोधन करना इष्ट है। पर उसका निर्मूल नाश करना न शक्य और न इष्ट। प्रवर्तक धर्म के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति के लिए गृहस्थाश्रम जरूरी है उसे लांघ कर कोई विकास कर नहीं सकता।

व्यक्तिगामी निवर्तक-धर्म

निवर्तक-धर्म व्यक्तिगामी है। वह आत्मसाक्षातकार की उत्कृष्ट वृत्ति में से उत्पन्न होने के कारण जिज्ञासु को आत्म तत्त्व है या नहीं, है तो वह कैसा है, उसका अन्य के साथ कैसा संबंध है, उसका साक्षात्कार संभव है तो किन-किन उपायों से संभव है, इत्यादि प्रश्नों की ओर प्रेरित करता है। ये प्रश्न ऐसे नहीं हैं कि जो एकान्त-चिन्तन, ध्यान, तप और असंगतापूर्ण जीवन के सिवाय सुलझ सकें। ऐसा सच्चा जीवन खास व्यक्तियों के लिए ही संभव हो सकता है । उसका समाजगामी होना संभव नहीं। इस कारण प्रवर्तक-धर्म की अपेक्षा निवर्तक-धर्म का क्षेत्र शुरू में बहुत परिमित रहा। निवर्तक-धर्म के लिए गृहस्थाश्रम का बंधन था ही नहीं। वह गृहस्थाश्रम बिना किये भी व्यक्ति को सर्वत्याग की अनुमति देता है। क्योंकि उसका आधार इच्छा का संशोधन नहीं पर उसका निरोध है। अत एव प्रवर्तक-धर्म समस्त

सामाजिक और धार्मिक कर्तव्यों से बद्ध होने की बात नहीं मानता। उसके अनुसार व्यक्ति के लिए मुख्य कर्तव्य एक ही है और वह यह कि जिस तरह हो आत्म-साक्षात्कार का और उसमें रुकावट डालने वाली इच्छा के नाश का प्रयत्न करे।

निवर्तक-धर्म का प्रभाव व विकास

जान पड़ता है इस देश में जब प्रवर्तक धर्मानुयायी वैदिक आर्य पहले-पहल आए तब भी कहीं न कहीं इस देश में निवर्तक-धर्म एक या दूसरे रूप में प्रचलित था। शुरू में इन दो धर्म संस्थाओं के विचारों में पर्याप्त संघर्ष रहा पर निवर्तक-धर्म के इने-गिने सच्चे अनुगामियों की तपस्या, ध्यान-प्रणाली और असंगचर्या का साधारण जनता पर जो प्रभाव धीरे-धीरे बढ रहा था उसने प्रवर्तक धर्म के कुछ अनुगामियों को भी अपनी ओर खींचा और निवर्तक-धर्म की संस्थाओं का अनेक रूप में विकास होना शुरू हुआ। इसका प्रभावकारी फल अन्त में यह हुआ कि प्रवर्तक-धर्म केआधार रूप जो ब्रह्मचर्य और गृहस्थ दो आश्रम माने जाते थे उनके स्थान में प्रवर्तक-धर्म के पुरस्कर्ताओं ने पहले तो वानप्रस्थ सहित तीन और पीछे संन्यास सहित चार आश्रमों को जीवन में स्थान दिया। निवर्तक-धर्म की अनेक संस्थाओं के बढते हुए जनव्यापी प्रभाव के कारण अन्त में तो यहाँ तक प्रवर्तक धर्मानुयायी ब्राह्मणों ने विधान मान लिया कि गृहस्थाश्रम के बाद जैसे संन्यास न्यायप्राप्त है वैसे ही अगर तीव्र वैराग्य हो तो गृहस्थाश्रम बिना किये भी सीधे ही ब्रह्मचर्याश्रम से प्रव्रज्यामार्ग न्यायप्राप्त है। इस तरह जो प्रवर्तक-धर्म का जीवन में समन्वय स्थिर हुआ उसका फल हम दार्शनिक साहित्य और प्रजाजीवन में आज भी देखते हैं।

समन्वय और संघर्षण

जो तत्त्वज्ञ ऋषि प्रवर्तक-धर्म के अनुयायी ब्राह्मणों के वंशज होकर भी निवर्तक-धर्म को पूरे तौर से अपना चुके थे उन्होंने चिन्तन और जीवन में निवर्तक-धर्म का महत्त्व व्यक्त किया। फिर भी उन्होंने अपनी पैत्रिक संपत्ति रूप प्रवर्तक धर्म और उसके आधारभूत वेदों का प्रामाण्य मान्य रखा। न्यायवैशेषिक दर्शन के और औपनिषद दर्शन के आद्य द्रष्टा ऐसे ही तत्त्वज्ञ ऋषि थे। निवर्तक-धर्म के कोई-कोई पुरस्कर्ता ऐसे भी हुए कि जिन्होंने तप, ध्यान और आत्मसाक्षात्कार के बाधक

क्रियाकांड का तो आत्यंतिक विरोध किया पर उस क्रियाकाण्ड की आधारभूत श्रुति का सर्वथा विरोध नहीं किया। ऐसे व्यक्तियों में सांख्य दर्शन के आदि पुरुष कपिल आदि ऋषि थे। यही कारण है कि मूल में सांख्य-योग दर्शन प्रवर्तक-धर्म का विरोधी होने पर भी अन्त में वैदिक दर्शनों में समा गया।

समन्वय की ऐसी प्रक्रिया इस देश में शताब्दियों तक चली। फिर कुछ ऐसे आत्यन्तिकवादी दोनों धर्मों में होते रहे कि वे अपने-अपने प्रवर्तक या निवर्तक-धर्म के अलावा दूसरे पक्ष को न मानते थे, और न युक्त बतलाते थे। भगवान महावीर और बुद्ध के पहले भी ऐसे अनेक निवर्तक-धर्म के पुरस्कर्ता हुए हैं। फिर भी महावीर और बुद्ध के समय में तो इस देश में निवर्तक-धर्म की पोषक ऐसी अनेक संस्थाएँ थीं और दूसरी अनेक ऐसी नई पैदा हो रहीं थीं कि जो प्रवर्तक धर्म का उग्रता से विरोध करतीं थीं। अब तक नीच से ऊँच तक के वर्ग में निवर्तक-धर्म की छाया में विकास पानेवाले विविध तपोनुष्ठान, विविध ध्यान-मार्ग और नानाविध त्यागमय आचारों का इतना अधिक प्रभाव फैलने लगा था कि फिर एक बार महावीर और बुद्ध के समय में प्रवर्तक और निवर्तक-धर्म के बीच प्रबल विरोध की लहर उठी जिसका सबूत हम जैन-बौद्ध वाङ्मय तथा समकालीन ब्राह्मण वाङ्मय में पाते हैं। तथागत बुद्ध ऐसे पक्क विचारक और दृढ थे कि जिन्होंने किसी भी तरह से अपने निवर्तक-धर्म में प्रवर्तक-धर्म के आधारभूत मन्तव्यों और शास्त्रों को आश्रय नहीं दिया। दीर्घ तपस्वी महावीर भी ऐसे ही कट्टर निवर्तक-धर्मी थे। अत एव हम देखते हैं कि पहिले से आज तक जैन और बौद्ध संप्रदाय में अनेक वेदानुयायी विद्वान् ब्राह्मण दीक्षित हुए फिर भी उन्होंने जैन और बौद्ध वाङ्मय में वेद के प्रामाण्य स्थापन का न कोई प्रयत्न किया और न किसी ब्राह्मणग्रन्थविहित यज्ञयागादि कर्मकाण्ड को मान्य रखा।

निवर्तक-धर्म के मन्तव्य और आचार-

शताब्दियों ही नहीं बल्कि सहस्राब्दि पहले से लेकर जो धीरे-धीरे निवर्तक धर्म के अंग-प्रत्यंग रूप से अनेक मन्तव्यों और आचारों का महावीर-बुद्ध तक के समय में विकास हो चुका था वे संक्षेप में ये हैं:- १-आत्मशुद्धि ही जीवन का मुख्य उद्देश्य है, न कि ऐहिक या पारलौकिक किसी भी पद का महत्त्व। २-इस उद्देश्य की पूर्ति में बाधक आध्यात्मिक मोह, अविद्या ओर तज्जन्य तृष्णा का मूलोच्छेद

करना। ३-इसके लिए आध्यात्मिक ज्ञान और उसके द्वारा सारे जीवन व्यवहार को पूर्ण निस्तृष्ण बनाना। इसके वास्ते शारीरिक, मानसिक वाचिक, विविध तपस्याओं का तथा नाना प्रकार के ध्यान, योग-मार्ग का अनुसरण और तीन चार या पाँच महाव्रतों का यावज्जीवन अनुष्ठान। ४-किसी भी आध्यात्मिक अनुभव वाले मनुष्य के द्वारा किसी भी भाषा में कहे गये आध्यात्मिक वर्णन वाले वचनों को ही प्रमाण रूप से मानना, न कि ईश्वरीय या अपौरुषेय रूप से स्वीकृत किसी खास भाषा में रचित ग्रन्थों को। ५-योग्यता और गुरुपद की कसौटी एक मात्र जीवन की आध्यात्मिक शुद्धि, न कि जन्मसिद्ध वर्णविशेष। इस दृष्टि से स्त्री और शूद्र तक का धर्माधिकार उतना ही है, जितना एक ब्राह्मण और क्षत्रिय पुरुष का। ६-मद्य-मांस आदि का धार्मिक और सामाजिक जीवन में निषेध। ये तथा इनके जैसे लक्षण जो प्रवर्तक-धर्म के आचारों और विचारों से जुदा पड़ते थे वे देश में जड़ जमा चुके थे और दिन-ब-दिन विशेष बल पकड़ते जाते थे।

निर्ग्रन्थ-सम्प्रदाय

कमोबेश उक्त लक्षणों को धारण करनेवाली अनेक संस्थाओं और सम्प्रदायों में एक ऐसा पुराना निवर्तक-धर्मी सम्प्रदाय था जो महावीर के पहिले बहुत शताब्दियों से अपने खास ढंग से विकास करता जा रहा था। उसी सम्प्रदाय में पहिले नाभिनन्दन ऋषभदेव, यदुनन्दन नेमिनाथ और काशीराजपुत्र पार्श्वनाथ हो चुके थे, या वे उस सम्प्रदाय में मान्य पुरुष बन चुके थे। उस सम्प्रदाय के समय-समय पर अनेक नाम प्रसिद्ध रहे। यति, भिक्षु, मुनि, अनगार, श्रमण आदि जैसे नाम तो उस सम्प्रदाय के लिए व्यवहृत होते थे पर जब दीर्घ तपस्वी महावीर उस सम्प्रदाय के मुखिया बने तब सम्भवतः वह सम्प्रदाय निर्ग्रन्थ नाम से विशेष प्रसिद्ध हुआ। यद्यपि निवर्तक-धर्मानुयायी पन्थों में ऊँची आध्यात्मिक भूमिका पर पहुँचे हुए व्यक्ति के वास्ते 'जिन' शब्द साधारण रूप से प्रयुक्त होता था। फिर भी भगवान् महावीर के समय में और उनके कुछ समय बाद तक भी महावीर का अनुयायी साधु या गृहस्थ वर्ग 'जैन' (जिनानुयायी) नाम से व्यवहृत नहीं होता था। आज जैन शब्द से महावीरपोषित सम्प्रदाय के 'त्यागी' 'गृहस्थ' सभी अनुयायियों का जो बोध होता है इसके लिए पहिले 'निग्गंथ' और 'समणोवासग' आदि जैसे शब्द व्यवहृत होते थे।

जैन और बौद्ध सम्प्रदाय

इस निर्ग्रन्थ या जैन सम्प्रदाय में ऊपर सूचित निर्वृत्ति-धर्म के सब लक्षण बहुधा थे ही पर इसमें ऋषभ आदि पूर्व कालीन त्यागी महापुरुषों के द्वारा तथा अन्त में ज्ञातपुत्र महावीर के द्वारा विचार और आचारगत ऐसी छोटी-बड़ी अनेक विशेषताएँ आई थीं व स्थिर हो गई थीं कि जिनसे ज्ञातपुत्र-महावीर पोषित यह सम्प्रदाय दूसरे निवृत्तिगामी सम्प्रदायों से खास जुदा रूप धारण किये हुए था। यहाँ तक कि यह जैन सम्प्रदाय बौद्ध सम्प्रदाय से भी खास फर्क रखता था। महावीर और बुद्ध न केवल समकालीन ही थे बल्कि वे बहुधा एक ही प्रदेश में विचरने वाले तथा समान और समकक्ष अनुयायियों को एक ही भाषा में उपदेश करते थे। दोनों के मुख्य उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं था फिर भी महावीर पोषित और बुद्धसंचालित सम्प्रदायों में शुरू से ही खास अन्तर रहा जो ज्ञातव्य है। बौद्ध सम्प्रदाय बुद्ध को ही आदर्श रूप से पूजता है तथा बुद्ध के ही उपदेशों का आदर करता है जब कि जैन सम्प्रदाय महावीर आदि को इष्ट देव मानकर उन्हीं के वचनों को मान्य रखता है। बौद्ध चित्तशुद्धि के लिए ध्यान और मानसिक संयम पर जितना ज़ोर देते हैं उतना ज़ोर बाह्य तप और देहदमन पर नहीं। जैन ध्यान और मानसिक संयम के अलावा देहदमन पर भी अधिक ज़ोर देते रहे। बुद्ध का जीवन जितना लोगों में हिलने-मिलनेवाला तथा उनके उपदेश जितने अधिक सीधे-साधे लोकसेवागामी हैं वैसा महावीर का जीवन तथा उपदेश नहीं हैं। बौद्ध अनगार की बाह्यचर्या उतनी नियन्त्रित नहीं रही जितनी जैन अनगारों की। इसके सिवाय और भी अनेक विशेषताएँ हैं जिनके कारण बौद्ध सम्प्रदाय भारत के समुद्र और पर्वतों की सीमा लांघकर उस पुराने समय में भी अनेक भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी, सभ्य-असभ्य जातियों में दूर-दूर तक फैला और करोड़ों अभारतियों ने भी बौद्ध आचार-विचार को अपने-अपने ढंग से अपनी-अपनी भाषा में उतारा वा अपनाया जब कि जैन सम्प्रदाय के विषय में ऐसा नहीं हुआ।

यद्यपि जैन संप्रदाय ने भारत के बाहर स्थान नहीं जमाया फिर भी वह भारत के दूरवर्ती सब भागों में धीरे-धीरे न केवल फैल ही गया बल्कि उसने अपनी कुछ खास विशेषताओं की छाप प्रायः भारत के सभी भागों पर थोडी बहुत जरूर डाली। जैसे-जैसे जैन संप्रदाय पूर्व से उत्तर और पश्चिम तथा दक्षिण की ओर फैलता गया वैसे-वैसे उसे प्रवर्तक-धर्म वाले तथा निवृत्ति-पंथी अन्य संप्रदायों के साथ थोड़े-

बहुत संघर्ष में भी आना पड़ा। इस संघर्ष में कभी तो जैन आचार-विचारों का असर दूसरे संप्रदायों पर पड़ा और कभी दूसरे संप्रदायों के आचार-विचारों का असर जैन संप्रदाय पर भी पड़ा। यह क्रिया किसी एक ही समय में या एक ही प्रदेश में किसी एक ही व्यक्ति के द्वारा संपन्न नहीं हुई। बल्कि दृश्य-अदृश्य रूप में हजारों वर्ष तक चलती रही और आज भी चालू है। पर अन्त में जैन संप्रदाय और दूसरे भारतीय-अभारतीय सभी धर्म-संप्रदायों का स्थायी, सहिष्णुतापूर्ण समन्वय सिद्ध हो गया है जैसे कि एक कुटुम्ब के भाइयों में होकर रहता है। इस पीढियों के समन्वय के कारण साधारण लोग यह जान ही नहीं सकते कि उसके धार्मिक आचार-विचार की कौन-सी बात मौलिक है और कौन-सी दूसरों के संसर्ग का परिणाम है। जैन आचार-विचार का जो असर दूसरों पर पड़ा है उसका दिग्दर्शन कराने के पहिले दूसरे संप्रदायों के आचार-विचार का का जैन-मार्ग पर जो असर पड़ा है उसे संक्षेप में बतलाना ठीक होगा जिससे कि जैन संस्कृति का हार्द सरलता से समझा जा सके।

अन्य संप्रदायों का जैन-संस्कृति पर प्रभाव

इन्द्र, वरुण आदि स्वर्गीय देव-देवियों की स्तुति, उपासना के स्थान में जैनों का आदर्श है निष्कलंक मनुष्य की उपासना। पर जैन आचार-विचार में बहिष्कृत देव देवियाँ, पुनः गौण रूप से ही सही, स्तुति-प्रार्थना द्वारा घुस ही गई, जिसका कि जैन संस्कृति के उद्देश्य के साथ कोई भी मेल नहीं है। जैन-परंपरा ने उपासना में प्रतीक रूप से मनुष्य मूर्ति को स्थान तो दिया, जो कि उसके उद्देश्य के साथ संगत है, पर साथ ही उसके आसपास श्रृंगार व आडम्बर का इतना संभार आ गया जो कि निवृत्ति के लक्ष्य के साथ बिलकुल असंगत है। स्त्री और शूद्र को आध्यात्मिक समानता के नाते ऊँचा उठाने का तथा समाज में सम्मान व स्थान दिलाने का जो जैन संस्कृति का उद्देश्य रहा वह यहाँ तक लुप्त हो गया कि न केवल उसने शूद्रों को अपनाने की क्रिया ही बन्द कर दी बल्कि उसने ब्राह्मण-धर्म-प्रसिद्ध जाति की दीवारें भी खडी कीं। यहाँ तक कि जहाँ ब्राह्मण-परंपरा का प्राधान्य रहा वहाँ तो उसने अपने घेरे में से भी शूद्र कहलाने वाले लोगों को अजैन कहकर बाहर कर दिया और शुरू में जैन-संस्कृति जिस जाति-भेद का विरोध करने में गौरव समझती थी उसने दक्षिण जैसे देशों मे नए जाति-भेद की सृष्टि कर दी तथा स्त्रियों को पूर्ण आध्यात्मिक योग्यता के लिये असमर्थ करार दिया जो कि स्पष्टतः कट्टर ब्राह्मण-परंपरा का ही असर है। मन्त्र ज्योतिष आदि विद्याएँ जिनका जैन संस्कृति के ध्येय के

साथ कोई संबन्ध नहीं वे भी जैन संस्कृति में आईं। इतना ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक जीवन स्वीकार करनेवाले अनगारों तक ने उन विद्याओं को अपनाया। जिन यज्ञोपवीत आदि संस्कारों का मूल में जैन संस्कृति के साथ कोई संबंध न था वे ही दक्षिण हिन्दुस्तान में मध्यकाल में जैन-संस्कृति का एक अंग बन गए और इसके लिए ब्राह्मण-परंपरा की तरह जैन-परंपरा में भी एक पुरोहित वर्ग कायम हो गया। यज्ञयागादि की ठीक नकल करने वाले क्रियाकाण्ड प्रतिष्ठा आदि विधियों मे आ गए। ये तथा ऐसी दूसरी अनेक छोटी-मोटी बातें इसलिए घटीं कि जैन-संस्कृति को उन साधारण अनुयायियों की रक्षा करनी थी जो कि दूसरे विरोधी सम्प्रदायों में से आकर उसमें शरीक होते थे, या दूसरे सम्प्रदायों के आचार-विचारों से अपने को बचा न सकते थे। अब हम थोड़े में यह भी देखेंगे कि जैन-संस्कृति का दूसरों पर क्या खास असर पड़ा।

जैन-संस्कृति का प्रभाव

यों तो सिद्धान्ततः सर्वभूतदा को सभी मानते हैं पर प्राणीरक्षा के ऊपर जितना ज़ोर जैन-परंपरा ने दिया, जितनी लगन से उसने इस विषय में काम किया उसका नतीजा सारे ऐतिहासिक युग में यह रहा है कि जहाँ-जहाँ और जब-जब जैन लोगों का एक या दूसरे क्षेत्र में प्रभाव रहा सर्वत्र आम जनता पर प्राणिरक्षा का प्रबल संस्कार पड़ा है। यहाँ तक कि भारत के अनेक भागों में अपने को अजैन कहनेवाले तथा जैन-विरोधी समझनेवाले साधारण लोग भी जीव-मात्र की हिंसा से नफ़रत करने लगे हैं। अहिंसा के इस सामान्य संस्कार के ही कारण अनेक वैष्णव आदि जैनेतर परंपराओं के आचार-विचार पुरानी वैदिक परंपरा से बिलकुल जुदा हो गए हैं। तपस्या के बारे में भी ऐसा ही हुआ है। त्यागी हो या गृहस्थ सभी जैन तपस्या के ऊपर अधिकाधिक झुकते रहे हैं। इसका फल पड़ोसी समाजों पर इतना अधिक पड़ा है कि उन्होंने भी एक या दूसरे रूप से अनेकविध सात्त्विक तपस्याएँ अपना ली हैं। और सामान्यरूप से साधारण जनता जैनों की तपस्या की ओर आदरशील रही है। यहाँ तक की अनेक बार मुसलमान सम्राट तथा दूसरे समर्थ अधिकारियों ने तपस्या से आकृष्ट होकर जैन-सम्प्रदाय का बहुमान ही नहीं किया है बल्कि उसे अनेक सुविधाएँ भी दी हैं। मद्य-मांस आदि सात व्यसनों को रोकने तथा उन्हें घटाने के लिए जैन-वर्ग ने इतना अधिक प्रयत्न किया है कि जिससे वह व्यसनसेवी अनेक जातियों में सुसंस्कार डालने में समर्थ हुआ है। यद्यपि बौद्ध आदि दूसरे सम्प्रदाय पू

बल से इस सुसंस्कार के लिए प्रयत्न करते रहे पर जैनों का प्रयत्न इस दिशा में आज तक जारी है और जहाँ जैनों का प्रभाव ठीक ठीक है वहाँ इस स्वैरविहार के स्वतन्त्र युग में भी मुसलमान और दूसरे मांसभक्षी लोग भी खुल्लमखुल्ला मांस-मद्य का उपयोग करने में सकुचाते हैं। लोकमान्य तिलक ने ठीक ही कहा था कि गुजरात आदि प्रान्तों से जो प्राणीरक्षा और निर्मांस भोजन का आग्रह है वह जैन-परंपरा का ही प्रभाव है। जैन विचारसरणी का एक मौलिक सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक वस्तु का विचार अधिकाधिक पहलुओं और अधिकाधिक दृष्टिकोणों से करना और विवादास्पद विषय में बिलकुल अपने विरोधी-पक्ष के अभिप्राय को भी उतनी ही सहानुभूति से समझने का प्रयत्न करना जितनी कि सहानुभूति अपने पक्ष की ओर हो। और अन्त में समन्वय पर ही जीवन-व्यवहार का फैसला करना। यों तो यह सिद्धान्त सभी विचारकों के जीवन में एक या दूसरे रूप से काम करता ही रहता है। इसके सिवाय प्रजाजीवन न तो व्यवस्थित बन सकता है और न शान्तिलाभ कर सकता है। पर जैन विचारकों ने उस सिद्धान्त की इतनी अधिक चर्चा की है और उस पर इतना अधिक ज़ोर दिया है कि जिससे कट्टर-से-कट्टर विरोधी संप्रदायों को भी कुछ-न-कुछ प्रेरणा मिलती ही रही है। रामानुज का विशिष्टाद्वैत उपनिषद् की भूमिका के ऊपर अनेकान्तवाद ही तो है।

जैन परंपरा के आदर्श

जैन-संस्कृति के हृदय को समझने के लिए हमें थोड़े से उन आदर्शों का परिचय करना होगा जो पहिले से आज तक जैन-परंपरा में एक से मान्य हैं और पूजे जाते हैं। सब से पुराना आदर्श जैन-परंपरा के सामने ऋषभदेव और उनके परिवार का है। ऋषभदेव ने अपने जीवन का सबसे बड़ा भाग उन जवाबदेहियों को बुद्धिपूर्वक अदा करने में बिताया जो प्रजा पालन की जिम्मेदारी के साथ उन पर आ पड़ीं थीं। उन्होंने उस समय के बिलकुल अपढ लोगों को लिखना-पढना सिखाया, कुछ काम-धन्धा न जाननेवाले बनचरों को उन्होंने खेती-बाड़ी तथा बढई, कुम्हार आदि के जीवनोपयोगी धन्धे सिखाए, आपस में कैसे बरतना, कैसे नियमों का पालन करना यह भी सिखाया। जब उनको महसूस हुआ कि अब बड़ा पुत्र भरत प्रजाशासन की सब जवाबदेहियों को निवाह लेगा तब उसे राज्यभार सौंप कर गहरे आध्यात्मिक प्रश्नों की छानबीन के लिए उत्कट तपस्वी होकर घर से निकल पड़े।

ऋषभदेव की दो पुत्रियाँ ब्राह्मी और सुन्दरी नाम की थीं। उस ज़मानें में भाई-बहन के बीच शादी की प्रथा प्रचलित थी। सुन्दरी ने इस प्रथा का विरोध करके अपनी सौम्य तपस्या से भाई भरत पर ऐसा प्रभाव डाला कि जिससे भरत ने न केवल सुन्दरी के साथ विवाह करने का विचार ही छोड़ा बल्कि वह उसका भक्त बन गया। ऋग्वेद के यमीसूक्त में भाई यम ने भगिनी यमी की लग्न-मांग को अस्वीकार किया जब कि भगिनी सुन्दरी ने भाई भरत की लग्न मांग को तपस्या में परिणत कर दिया और फलतः भाई-बहन के लग्न की प्रतिष्ठित प्रथा नामशेष हो गई।

ऋषभ के भरत और बाहुबली नामक पुत्रों में राज्य के निमित्त भयानक युद्ध शुरू हुआ। अन्त में द्वन्द्व युद्ध का फैसला हुआ। भरत का प्रचण्ड प्रहार निष्फल गया। जब बाहुबली की बारी आई और समर्थतर बाहुबली को जान पड़ा कि मेरे मुष्टि प्रहार से भरत की अवश्य दुर्दशा होगी तब उसने उस भ्रातृविजयाभिमुखक्षण को आत्मविजय में बदल दिया। उसने यह सोच कर कि राज्य के निमित्त लड़ाई में विजय पाने और वैर-प्रति वैर तथा कुटुम्ब कलह के बीज बोने की अपेक्षा सच्ची विजय अहंकार और तृष्णा-जय में ही है। उसने अपने बाहुबल को क्रोध और अभिमान पर ही जमाया और अवैर से वैर के प्रतिकार का जीवन्त दृष्टान्त स्थापित किया। फल यह हुआ कि अन्त में भरत का भी लोभ तथा गर्व खत्म हुआ।

एक समय था जब कि केवल क्षत्रियों में ही नहीं, पर सभी वर्गों में मांस खाने की प्रथा थी। नित्य प्रति के भोजन, सामाजिक उत्सव, धार्मिक अनुष्ठान के अवसरों पर पशु-पक्षियों का वध ऐसा ही प्रचलित और प्रतिष्ठित था जैसा आज नारियलों और फलों का चढाना। उस युग में यदुनन्दन नेमिकुमार ने एक अजीब कदम उठाया। उन्होंने अपनी शादी पर भोजन के वास्ते कतल किये जानेवाले निर्दोष पशु-पक्षियों की आर्त मूक वाणी से सहसा पिघलकर निश्चय किया कि वे ऐसी शादी न करेंगे जिसमें अनावश्यक और निर्दोष पशु-पक्षियों का वध होता हो। उस गम्भीर निश्चय के साथ वे सबकी सुनी-अनसुनी करके बारात से शीघ्र वापिस लौट आए। द्वारका से सीधे गिरनार पर्वत पर जाकर उन्होंने तपस्या की। कौमारवय में राजपुत्री का त्याग और ध्यान-तपस्या का मार्ग अपनाकर उन्होंने उस चिर-प्रचलित पशु-पक्षी-वध की प्रथा पर आत्मदृष्टान्त से इतना सख्त प्रहार किया कि जिससे गुजरात भर में और गुजरात के प्रभाववाले दूसरे प्रान्तों मे भी वह प्रथा नाम-शेष हो गई और

जगह-जगह आज तक चली आनेवाली पिंजरापोलों की लोकप्रिय संस्थाओं में परिवर्तित हो गई ।

पार्श्वनाथ का जीवन-आदर्श कुछ और ही रहा है । उन्होंने एक बार दुर्वासा जैसे सहजकोपी तापस तथा उनके अनुयायियों की नाराजगी का खतरा उठाकर भी एक जलते साँप को गीली लकड़ी से बचाने का प्रयत्न किया। फल यह हुआ है कि आज भी जैन प्रभाववाले क्षेत्रों में कोई साँप तक को नहीं मारता।

दीर्घ तपस्वी महावीर ने भी एक बार अपनी अहिंसा-वृत्ति की पूरी साधना का ऐसा ही परिचय दिया। जब जंगल में वे ध्यानस्थ खड़े थे एक प्रचंड विषधर ने उन्हें डस लिया, उस समय वे न केवल ध्यान में अचल ही रहे, बल्कि उन्होंने मैत्री-भावना का उस विषधर पर प्रयोग किया जिससे वह ''अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः'' इस योगसूत्र का जीवित उदाहरण बन गया। अनेक प्रसंगों पर यज्ञयागादि धार्मिक कार्यो में होनेवाली हिंसा को तो रोकने का भरसक प्रयत्न वे आजन्म करते ही रहे। ऐसे ही आदर्शों से जैन-संस्कृति उत्प्राणित होती आई है और अनेक कठिनाइयों के बीच भी उसने अपने आदर्शों के हृदय को किसी न किसी तरह सँभालने का प्रयत्न किया है, जो भारत के धार्मिक, सामाजिक और राजकीय इतिहास में जीवित है । जब कभी सुयोग मिला तभी त्यागी तथा राज, मन्त्री तथा व्यापारी आदि गृहस्थों ने जैन-संस्कृति के अहिंसा, तप और संयम के आदर्शों का अपने ढंग से प्रचार किया।

संस्कृति का उद्देश्य

संस्कृति मात्र का उद्देश्य है मानवता की भलाई की ओर आगे बढना। यह उद्देश्य वह तभी साध सकती है जब वह अपने जनक और पौषक राष्ट्र की भलाई में योग देने की ओर सदा अग्रसर रहे। किसी भी संस्कृति के बाह्य अंग केवल अभ्युदय के समय ही पनपते हैं और ऐसे ही समय वे आकर्षक लगते हैं। पर संस्कृति के हृदय की बात जुदी है। समय आफत का हो या अभ्युदय का, उसकी अनिवार्य आवश्यकता सदा एक-सी बनी रहती है। कोई भी संस्कृति केवल अपने उद्योग-धन्धे अपने अस्तित्व के लिए बुद्धि, धन, परिश्रम और साहस की अपेक्षा कर रही है। अत एव गृहस्थों का यह धर्म हो जाता है कि वे संपत्ति का उपयोग तथा विनियोग

राष्ट्र के लिए करें। वे गांधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को अमल में लाएँ। बुद्धिसंपन्न और साहसिकों का धर्म है कि वे नम्र बनकर ऐसे ही कामों में लग जाएँ जो राष्ट्र के लिए विधायक हैं। काँग्रेस का विधायक कार्यक्रम काँग्रेस की ओर से रखा गया है इसलिए वह उपेक्षणीय नहीं है। असल में वह कार्यकम जैन-संस्कृति का जीवन्त अंग है। दलितों और अस्पृश्यों को भाई की तरह बिना अपनाए कौन यह कह सकेगा कि मैं जैन हूँ? खादी और ऐसे दूसरे उद्योग जो अधिक से अधिक अहिंसा के नजदीक हैं और एक मात्र आत्मौपम्य एवं अपरिग्रह धर्म के पोषक हैं, उनको उत्तेजना दिये बिना कौन कह सकेगा कि मैं अहिंसा का उपासक हूँ ? अत एव उपसंहार में इतना ही कहना चाहता हूँ कि जैन लोग, निरर्थक आडम्बरों और शक्ति के अपव्ययकारी प्रसंगों में अपनी संस्कृति सुरक्षित है, यह भ्रम छोड़कर उसके हृदय की रक्षा का प्रयत्न करें, जिसमें हिन्दू और मुसलमानों का ही क्या, सभी कौमों का मेल भी निहित है।

संस्कृति का संकेत

संस्कृति-मात्र का संकेत लोभ और मोह को घटाने निर्मूल करने का है, न कि प्रवृत्ति को निर्मूल करने का। वही प्रवृत्ति त्याज्य है जो आसक्ति के बिना कभी संभव ही नहीं, जैसे कामाचार व वैयक्तिक परिग्रह आदि। ज़ो प्रवृत्तियाँ समाज का धारण, पोषण, विकसन करनेवाली हैं वे आसक्तिपूर्वक और आसक्ति के सिवाय भी संभव हैं। अत एव संस्कृति आसक्ति के त्यागमात्र का संकेत करती है। जैन-संस्कृति यदि संस्कृति-सामान्य का अपवाद बने तो वह विकृत बनकर अंत में मिट जा सकती है। (ई० १९४२) (विश्वव्यापी)

* * * * *

लेखांक ७

करुणामय प्रज्ञामूर्ति का महाप्रस्थान

पू. बापू के समग्र जीवन की छोटी-बड़ी समस्त प्रवृत्तियों के केवल दो ही प्रेरक तत्त्व थे इस बात की प्रतीति चिंतन करनेवाले को अवश्य होगी। इन दो तत्त्वों में प्रथम तत्त्व है करुणा तथा दूसरा तत्त्व है प्रज्ञा। प्राणीमात्र में और विशेषतः मनुष्य में न्यूनाधिक अंश में करुणा अवश्य होती है और कुछ लोगों में - कुछ विशिष्ट व्यक्तियों में प्रज्ञा भी होती है, परंतु बापू की करुणा एवं उनकी प्रज्ञा विश्व की वर्तमान एवं भूतकाल की विभूतियों से भी स्पष्ट रूप से भिन्न प्रकार की प्रतीत होती है। साधारण मनुष्य अपने अल्प दुःख को भी सहन नहीं कर सकते हैं और इस कारण से वे अपने दुःख को समझने तथा उसके निवारण के लिए यथा संभव सब प्रयत्न करते हैं, जब कि अन्य लोगों के दुःख को हज़म कर जाते हैं ! अर्थात्। अन्य लोग इतने दुःखी है ऐसा देखने पर भी उस दुःख का निवारण करने की भावना बुद्धि उनके मन में जाग्रत नहीं होती। लेकिन कुछ असाधारण कक्षा के संत अपने दुःख की ही तरह दूसरे लोगों के दुःख को हज़म नहीं कर सकते, सहन नही कर सकते।

अतः जिस प्रकार से वे अपने दुःख के निवारण के लिए प्रयत्न करें उसी प्रकार दूसरों के दुःख के निवारण के लिए भी प्रयत्न करते हैं। परंतु उनके ये प्रयत्न तथा परदुःख निवारण की उत्कट इच्छा भी मर्यादित होती है, क्यों कि यह प्रयत्न तथा इच्छा अपने जीवन का बलिदान देने की भावना के साथ या अपने जीवन को दाँव पर लगा देने की तैयारी के साथ नहीं किये जाते हैं, जब कि पू. बापू का मानस बिलकुल अलग प्रकार का था। वे प्रत्येक व्यक्ति के दुःख को देख कर उस दुःख का कारण खोजते, उसके निवारण के उपाय खोजते तथा उन उपायों को कार्यान्वित करने-कराने के लिए इतना भगीरथ प्रयत्न करते तथा अपने प्रयत्नों की सफलता के

लिए कठोर परिश्रम करते जिसके कारण कभी कभी उनका समग्र जीवन दाँव पर लग जाता था ।

एक दूसरी दृष्टि से देखें तो भी ऐसा लगता है कि बापू की करुणा अन्य किसी भी व्यक्ति की करुणा से भिन्न प्रकार की थी । कुछ लोग ऐसे होते हैं जो दूसरों का शारीरिक – आधिभौतिक दुःख सहन नहीं कर सकते और उस दुःख के निवारण के लिए यथा संभव सब कुछ करते हैं । तो कुछ लोग ऐसे करुणाशील भी होते हैं जो दूसरों के मानसिक–आधिदैविक दुःख को आधिभौतिक दुःख से अधिक महत्व देते हुए उसके निवारण पर अधिक ज़ोर देते हैं । तीसरे प्रकार के कुछ करुणाशील ऐसे संत भी होते हैं जो सर्व दुःखों की जड़ रूप तृष्णा जैसी वासनाओं को ही आध्यात्मिक दुःख मान कर उसके निवारण के लिए पुरुषार्थ करते हैं । परंतु बापू की करुणा ऐसी किसी मर्यादा से बद्ध नहीं थी ऐसा उनकी संपूर्ण जीवनकथा से सिद्ध होता है । बापू के तो जन्म एवं मृत्यु दोनों ही मानों सब के आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक दुःख के निवारण हेतु ही हुए थे । मृत्यु का वरण भी मानों उन्होंने इसी ध्येय की सिद्धि हेतु किया था । इसीलिए उनकी करुणा महाकरुणा की – उच्चतम कक्षा की कोटि की करुणा थी ऐसा मानना ही होगा ।

ऋतंभरा प्रज्ञा और गाँधीजी

वैसे तो सच्चे कवियों, लेखकों, कलाकारों तथा संशोधकों में किसी न किसी प्रकार की प्रज्ञा होती ही है; परंतु योगशस्त्र में जिसे 'ऋतंभरा' कहा जाता है उस प्रकार की प्रज्ञा प्रज्ञावान माने जानेवाले वर्ग में भी महद् अंश में होती ही नहीं है। ऋतंभरा प्रज्ञा की विशिष्टता यह है कि वह सत्य के अंश या असत्य की छाया को भी वह सहन नहीं कर सकती है । जहाँ कहीं असत्य, अप्रामाणिकता या अन्याय दिखाई देता है वहाँ वह प्रज्ञा पूर्ण रूप से प्रज्वलित हो उठती है – सुलग उठती है और उस अन्याय को मिटा देने के दृढ़ संकल्प में ही परिणत होती है । बापू की प्रत्येक प्रवृत्ति उनकी ऋतंभरा प्रज्ञा का प्रमाण है और उसी कारण से, उनकी प्रज्ञा को भी महाप्रज्ञा के रूप में स्वीकार करना पड़ता है ।

प्रश्न यह है कि बापू भी हमारी तरह मिट्टी के ही बने हुए थे । उनका देह-जन्म भी दूसरे मनुष्यों की तरह किसी देश में – किसी एक कुल में ही हुआ था, फिर अन्य

ऐसी महाकरुणा तथा महाप्रज्ञा उन्हें इतने सहज रूप किसी में न देखी गई, न अनुभूत में कहाँ से प्राप्त हुई ? इस प्रश्न का उत्तर शरीर-जन्म में से प्राप्त किया नहीं जा सकता। संस्कार-जन्म, चित्त-जन्म या आत्म-जन्म के चिंतन के द्वारा ही उस प्रश्न का सहज उत्तर मिल जाता है । जन्म-जन्मांतर की साधना का संचित परिणाम न हो तो बालपन से ऐसी करणा एवं प्रज्ञा के बीज प्राप्त हों यह असंभव है ।

बाल्यावस्था का बापू का जीवन बताता है कि उनमें करुणा एवं प्रज्ञा के सूक्ष्म बीज विद्यमान थे । जैसे जैसे उम्र, अभ्यास, अवलोकन तथा उत्तरदायित्त्व, बढ़ते गये वैसे वैसे ये सूक्ष्म बीज त्वरित गति से विकसित होते गये - फलने - फूलने लगे। दूसरों के दुःखों का जब तक निवारण न हो तब तक बापू के मन को शांति प्राप्त न होती थी, अन्याय का सामना किये बिना उन्हें चैन न मिलता था । उनकी इस वृत्ति ने उनके लिए इतने विविध एवं विस्तृत कार्यक्षेत्रों का सर्जन किया कि किसी एक व्यक्ति के जीवन में ऐसा हुआ हो ऐसा उल्लेख इतिहास में कहीं नहीं मिलता । करुणा तथा प्रज्ञा के जन्मसिद्ध सूक्ष्म बीजों ने केवल कबीरवृक्ष कबीरवट नहीं 'विश्ववट' का रूप धारण किया था ऐसा उनके आख़िरी दिनों के उपवास तथा दिल्ही में प्रार्थना के समय दिये गये उनके प्रवचनों को देखकर कहना चाहिए ।

करुणा और प्रज्ञा आध्यात्मिक तत्त्व हैं, शाश्वत हैं । उसका विकास एवं उसकी दृश्यमान प्रवृत्ति यद्यपि शरीर के द्वारा ही होती है, परंतु वह उस मर्यादित शरीर में सीमित होकर नहीं रहती । उसके आंदोलन एवं उसकी प्रतिक्रियाएँ चारों ओर प्रसरित हो जाते हैं । बापू की करुणा तथा प्रज्ञा के आंदोलन किसी एक कौम या देश के लिए सीमित नहीं रहे हैं, दुनिया के हरेक प्रदेश में बस रही हर एक कौम में वे प्रतिध्वनित हुए हैं और इसी वजह से सारी दुनिया आज आँसु बहा रही है ।

यद्यपि बापू का शरीर भस्मीभूत हो चुका है, किन्तु उनकी महाकरुणा तथा महाप्रज्ञा अधिक विकसित हो कर विश्वव्यापी बन गईं हैं । सभी मनुष्यों में स्थित जीवनतत्त्व में जिस ब्रह्म का अथवा जिस सच्चिदानंद का अंश शुद्ध स्वरूप में निवास करता है वही सर्व जीवधारियों की अंतरात्मा है । बापू विदेही हुए अर्थात् ब्रह्मभाव को संप्राप्त हुए इसका अर्थ यह है कि उनकी करुणा तथा प्रज्ञा के विकसित अंकुर अनेक लोगों की अंतरात्मा की गहराई में प्रत्यारोपित हो गये और एकरूप हो गये ।

कहाँ बापू की कृश काया और कहाँ उनकी प्रतिपल चलनेवाली विविध प्रवृत्तियाँ, मन को उलझानेवाली जटिल समस्याएँ और बुद्धि को क्षुब्ध कर दे ऐसी जिम्मेवारियाँ ? फिर भी इतना सारा बोझ वे सोते-जागते, प्रतिक्षण प्रसन्न चित्त से उठाते-ढ़ोते, इसके पीछे कौन सी शक्ति छुपी हुई थी ? इस प्रश्न का उत्तर उनकी करुणा तथा प्रज्ञा के विकास में निहित है। करुणा और प्रज्ञा की उन्होंने जो अनवरत उपासना की, जिस आध्यात्मिक जीवन का विकास किया, जिस ब्रह्मतत्त्व का अनुभव किया, अन्य जीवात्माओं के साथ जो तादात्म्य सिद्ध किया, उसीने ही उन्हें प्रवृत्तियों के एवं जिम्मेवारियों के गोवर्धन पर्वत को उठाने की ताकत दी। गांधीजी की सदा जीवंत रहनेवाली - अमर जीवनगाथा ही ईश्वर तथा आध्यात्मिक तत्त्व की शक्ति का जाज्वल्यमान प्रमाण है। परंतु आध्यात्मिक तेज सूर्य के प्रकाश की भाँति चाहे कितना ही तेजोमय एवं जाज्वल्यमान हो, फिर भी दृष्टिहीन अंध के लिए वह किसी काम का नहीं। उल्टे अंध की दृष्टि तो ऐसे तेज से घुटन का अनुभव करती है। इसी कारण से बापू की दुःखोद्धार की तथा अन्याय के प्रतिकार की वृत्ति जैसे जैसे उग्र होती गई, वैसे वैसे आध्यात्मिक दृष्टविहीन अंध लोग अधिक क्षुब्ध हुए और क्रुद्ध हुए। परंतु ऐसा रोष अधिक से अधिक तो देह का हनन कर सकता है, करुणा तथा प्रज्ञा को तो वह छू भी नहीं सकता। जो महाकरुणा तथा जो ऋतंभरा प्रज्ञा कुछ समय पहले एक मर्यादित देह के द्वारा कार्य कर रही थी, वह करुणा तथा प्रज्ञा खुद को आलंबन देनेवाली कृश काया का अंत होने पर मानवता की महाकाया में समा गई और उसमें बसनेवाली अंतरात्मा के शुद्ध तत्त्वों का स्पर्श कर अपना कार्य अनंत मुखों के द्वारा जारी रखेगी उसमें शंका के लिए कोई स्थान नहीं है। जब सूर्यास्त होता है तब सूर्य का नाश नहीं होता, वह अन्यत्र प्रकाश फैलाता है; उसी प्रकार बापू की करुणा तथा प्रज्ञा उस कृश काया के द्वारा प्रकाशित न होकर मानवता की विराट काया के द्वारा अवश्य प्रकाशित होगी। घटनाक्रम तथा बापू की निर्भीकता को देखने से - उसके विषय में सोचने से ऐसा लगता है मानों मानवता की विराट काया ही उनकी करुणा - प्रज्ञा का तेज वहन करने के लिए समर्थ थी और इसी कारण से वह उसमें तदाकार हो गई। अपनी अंतरात्मा में उनकी करुणा एवं प्रज्ञा के अंशों को स्थापित कर के ही हम उन्हें वास्तविक श्रद्धांजलि अर्पित कर सकते हैं। (दिनांक १२ फरवरी १९४८ के दिन गुजरात विद्यापीठ में बापू के श्राद्धदिन को दिया गया व्याख्यान : 'संस्कृति' मासिक पत्र में प्रकाशित)

लेखांक ८

आखिर आश्वासन किससे मिलता है ?

पू. बापू को ब्रह्म में लीन हुए इतने दिन बीत गये हैं लेकिन हमारे आँसु थमते नहीं हैं, रुदन रुकता नहीं है। रेडियो पर किसी के द्वारा दी गई अंजलि को सुनते हैं या किसी भी समाचारपत्र, दैनिक, साप्ताहिक, मासिक या अन्य किसी भी प्रकार का सामयिक, चाहे वह किसी भी भाषा में, किसी भी पंथ, कौम या राष्ट्र का हो - प्रत्येक में बापू के निधन से व्याप्त शोक के स्वर ही सुनाई देते हैं और इन्हें पढ़ते ही हम सब के दिल भर आते हैं। कोई भी किसी को सांत्वना देने की स्थिति में नहीं है। अद्वैत जगत ने ऐसा रुदन इतिहास में कभी भी देखा हो ऐसा ज्ञात नहीं है।

ऐसा महारुदन किस कारण से ? उत्तर मिलता है कि महाकरुणा का वियोग प्राप्त हुआ है। बापू की करुणा किसी भी संत य महंत की करुणा से भिन्न प्रकार की थी। त्रिविध दुःखों की आग में जल रही मानवता को शांति दिलाने की उनकी तीव्र इच्छा और उनके प्रयत्न भी ऐसे थे जो जगत ने आज के पहले कभी देखे नहीं हैं। इन सब का वर्णन करने के लिए बुद्धि तथा वाणी के साधन 'सर्वमिदमत्यल्पं भवति' इस न्याय से अल्पमात्र बन जाते हैं, अपर्याप्त सिद्ध होते हैं।

जब निर्वासितों को आश्वासन देने के लिए कोई शक्तिमान न हो, जब अपहृत स्त्रियों को किसी भी दिशा से आशा का किरण दिखाई न देता हो, जब किसी एक वर्ग पर उसके विरोधी वर्ग के द्वारा अकथ्य त्रास दिया जा रहा हो और जहाँ सरकारों के या अन्य शुभेच्छकों के कोई भी प्रयत्न सफल न हो रहे हों तब प्रत्येक दुःखी व्यक्ति को अपने वैयक्तिक चारित्र्यबल या तपस्याबल के सहारे राहत दिलानेवाला कौन था ? वह तो बापू की जीवंत और अविश्रांत कार्य करनेवाली

करुणा ही थी । बापू हमारे लिए कुछ अवश्य करेंगे ही ऐसा विश्वास प्रत्येक दुःखी को आश्वासन देता था ।

और दुःख की महा होली को बुझाने का बापू का प्रयत्न भी कैसा अद्भुत-अभूतपूर्व था ! नौआखली में फैली हुई जुल्मों की भयानक आग को बुझाने के लिए उनकी करुणा एक उपाय करे तो कलकत्ता में हुए हत्याकांड के प्रभाव को दूर करने दूसरा मार्ग अपनाये । बिहार में जल रही होली की आग को बुझाने का उनका मार्ग कुछ और रहा और दिल्ही के महादावानल को बुझाने के उनके प्रयास कुछ और ही रहे । आग में घिरे हुए रह कर उस आग को बुझाने के प्रयत्न जारी हों तब भी पाकिस्तान के दूर दूर के प्रदेशों में जलती आग की ज्वालाओं का शमन किस प्रकार किया जाय उसके संबंध में सक्रिय विचारणा भी निरंतर एक-सी चलती रहती । महाकरुणा का ऐसा विराट दृश्य क्या जगत ने कभी देखा था ? यही कारण है कि आज सब रो रहे हैं, सब स्वयं को अनाथ, निराधार महसूस कर रहे हैं, चाहे वह कितना ही समृद्ध हो या शूरवीर हो, नम्र सेवक हो या महान अधिकारी हो, प्रत्येक व्यक्ति को ऐसा लगता है कि जो कार्य हमारी शक्ति की सीमा से बाहर था और है, वह काम यह अकेला इन्सान अपनी आंतरिक सूझबूझ से पूर्ण कर रहा था और यही विचार, यही भावना सब को रुला रही है ।

भारतवर्ष के बाहर अन्य देशों में रहने वाले समझदार लोग भी ऐसा मानते थे कि विश्वशांति के हमारे प्रयास रेत पर बनाये गए महल जैसे हैं । इन प्रयत्नों के पीछे कोई ठोस तत्त्व नहीं है । विश्वशांति के लिए जो ठोस तत्त्व आवश्यक है वह किसी की समझ में नहीं आ रहा है और अगर कोई उसे समझ रहा है तो उसे वह व्यावहारिक नहीं लग रही है । ऐसे समय में ऐसी ठोस भूमिका प्रस्तुत करनेवाले तथा अकेले ही उसे व्यावहारिक सिद्ध करनेवाले पुरुष को भारत ने जन्म दिया है और वही एक न एक दिन क्लेशकलह में डूबी हुई मानवता को चिरंतन शांति के संस्कार देने में सफल होगा । ऐसा आशास्तंभ ही जब टूट पड़े तब मानवता आँसू न बहाये तो क्या करे ? हम देख रहे हैं कि अब भी यह रुदन थमता नहीं है ।

अगर बापू महान करुणा की विराट मूर्ति हैं तो उनके वियोग का दुःख उससे भी विराट हो यह स्वाभाविक है । इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कारण भी हैं जो हमारे दुःख में वृद्धि करते हैं ।

हम जानते हैं कि सोक्रेटिस – सुकरात की हत्या ग्रीक लोगों ने की, ईसु ख्रीस्त की – जिसस की हत्या ज्यू – यहूदियों ने की, परंतु हिंदु मानस तो बापू जैसे महान संत, ऋषि या तपस्वी की हत्या का विचार भी नहीं कर सकता। हिंदु मानस के ऐसे गौरव से हमारा मन उन्नत था। राज्यलोभ के कारण या अन्य कारणों से हिंदु जाति में भी अनेक खून हुए हैं, परंतु किसी सच्चे तपस्वी या सच्चे संत की हत्या तो उसके अत्यंत कट्टर विरोधी हिंदु के हाथों कभी भी नहीं हुई है ! हिंदु मान में ऐसे भव्यता के एवं धर्म के जो दृढ़ संस्कार थे उस संस्कार के लोप से, उसे लगे हुए कलंक से समस्त हिंदु मानस आज लज्जित है और वही लज्जा आज उसके आँसुओं के द्वारा मानों बह रही है।

हिंदु कल्पना के अनुसार ब्राह्मण मानवता रूपी पुरुष का मुख है। उसके किन गुणों के कारण ब्राह्मण को मुख माना गया ? कौन से गुण ? क्या घातकता के गुण के कारण ? नहीं नहीं, कभी नहीं। नरमेध – पशुमेध की प्राकृत भूमिका से ब्राह्मण कब का ऊपर उठ चुका था और उसने तो यज्ञ में पिष्टमय पशु को स्थान दे कर अहिंसा की उच्च भूमिका भी सिद्ध कर दी थी। उसने तो सब को 'सर्वभूतहिते रतः' का पाठ सिखाना भी शुरु कर दिया था। वह ब्राह्मण तो सर्व भूत–प्राणीमात्र के हित–कल्याण के लिए रत था – तत्पर था। उसका जीवन तन्मय था इस कार्य के लिए। ऐसे ब्राह्मणत्व को कलंकित करनेवाला कोई ब्राह्मण भी उन व्यक्तियों के बीच या उन छोटे बड़े समूहों में किस प्रकार प्रविष्ट हुआ होगा ? क्या हिंदुत्व एवं ब्राह्मणत्व का शतमुख विनिपात अब आरंभ हुआ होगा कि जिससे वह 'सर्वभूतहिते रत' महापुरुष की ही हत्या का संकल्प करे ? महाकरुणा को समाप्त करने का संकल्प भी महान है यह सही है किंतु यह संकल्प क्रूर एवं कठोर होने के कारण अनार्य ही है। और जो मानवतारूप पुरुष के मुखस्थान पर विराजित होने के योग्य माना गया है उस ब्राह्मण जाति में और उससे भी अधिक चित्त को पावन करने की ख्याति जिसे प्राप्त हुई है ऐसे ब्राह्मण वंश में ऐसा अनार्य संस्कार उत्पन्न हो तो फिर हिंदुजाति तथा ब्राह्मणश्रेष्ठ के लिए कौन–सा अच्छा तत्त्व शेष रहा है ? इस विचार से भी समझदार लोगों का हृदय चित्कार कर उठता है और आँसु रोके नहीं रुकते।

अब हमें कौन सांत्वना दे सकेगा यही हमारी एकमात्र तड़पन है, आरज़ू है। जो सांत्वना देने आता है वह स्वयं ही दिलगीरी, गमगीनी और शोक में डूब जाता है। स्वस्थ चित्त से और हिम्मत से भरे हुए हृदय से कोई आ कर आश्वासन दे सके

ऐसी कोई संभावना नहीं दिखती है । ऐसे संयोगों में भी अंत में बापू ही उनके वियोग से अत्यंत व्यथित दुनिया को आश्वासन देते प्रतीत हो रहे हैं । मानों अदृश्य रह कर ही वे सब को एक समान ढंग से कह रहे हैं : क्या आप लोगों ने मुझे पहचाना नहीं है? और अगर पहचाना है तो फिर यह रुदन क्यों ? क्या में कभी भी रोया हूँ ? प्रसन्नचित्त रहकर हँसते हुए कर्तव्य करने के लिए और अपना ध्येय प्राप्त करने के लिए मर मिटने का मार्ग मैने नहीं बताया ? जो मैने आप सब से कहा ऐसा ही आचरण अगर मैंने किया है ऐसा आगर आप लोगों को लगता हो और आप अगर मुझ पर उतना ही विश्वास रखते हों तो फिर ये आँसु किस लिए ? इतने व्यथित और विचलित क्यों हो रहे हैं? रोना, दीनता का अनुभव करना, अनाथता का अनुभव करना - ये सब गीता में ही नहीं, सभी धर्मशास्त्रों में वर्जित ही माना गया है; तो मुझे श्रद्धांजलि देने वाले आप सब बहादुर बनो और सत्य एवं करुणा का आचरण करने हेतु मृत्युंजयी युद्ध में शहीद हो जाओ ।

* * * * *

लेखांक ९

गांधीजी का जीवनधर्म

जिस प्रकार गांधीजी एक भी भारतीय व्यक्ति की आर्थिक, समाजिक या राजकीय गुलामी सहन नहीं कर सकते और इसी कारण से संपूर्ण भारत की स्वातंत्र्य सिद्धि हेतु एक एक साँस लेते हैं, उसी प्रकार देश की गुलामी के विषय में सोचनेवाले, ऐसे ही मानसवाले तथा देश की केवल पूर्ण स्वतंत्रता हेतु ही दीक्षा ली हो ऐसे अन्य भी अनेक देशनेता आज भारत के कैदखानों में एवं बाहर हैं। भारत से बाहर अन्य देशों की ओर दृष्टिपात कर के सोचें तो गांधीजी की ही भाँति अपने अपने राष्ट्रों की स्वतंत्रता को न खोने के लिए, उसकी रक्षा करने के लिए, उसका विकास करने के लिए पूर्ण एवं अदम्य आकांक्षावाले स्टेलिन, हिटलर, चर्चिल या चांग काई शेक जैसे अनेक राजपुरुष हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं, फिर भी देश के या देश के बाहर के अन्य किसी भी नेता का जीवन उनके जीवन में किस धर्म का प्रभाव है, किस धर्म से वे प्रेरित हो रहे हैं उस विषय में सोचने के लिए हमें प्रेरित नहीं करता है; जब कि गांधीजी के विषय में इससे पूर्णतः विपरीत है। गांधीजी की प्रवृत्ति ग्राम उद्योगों को स्वात्मनिर्भर करने के लिए हो या पशुपालन कृषि, ग्रामसुधारणा, समाजसुधार, कौमी एकता, या राजकीय स्वतंत्रता से संबंधित हो, वे लिख रहे हो या बोल रहे हों, चल रहे हों या कोई अन्य काम कर रहे हों, उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति में लौकिक लाभालाभ की दृष्टि से उसका मूल्यांकन करने के अतिरिक्त एक अन्य रहस्य के विषय में भी विचार करने के लिए हम प्रेरित होते हैं। और वह रहस्य अर्थात् धर्म का रहस्य।

कौन सा धर्म शक्ति का सिंचन करता है ?

विचारक स्वयं सच्चे अर्थ में धार्मिक हो या न हो फिर भी गांधीजी की जीवनकथा पढ़ने के बाद या उनका जीवन प्रत्यक्ष देखने पर उसके मन में उनके जीवगत धर्म से संबंधित अनेक प्रश्न उठते हैं । वह सोचता है कि चौबीसों घंटे प्रवृत्ति में पूर्णतः लीन रहनेवाले इस व्यक्ति का जीवन धार्मिक हो सकता है या नहीं ? और अगर उसका जीवन धार्मिक है तो उसके जीवन में किस धर्म को स्थान प्राप्त हुआ है ? भूखंड पर प्रवर्तित सभी प्रसिद्ध धर्मों में से कौन सा धर्म इस पुरुष के जीवन को संजीवनी शक्ति प्रदान कर प्रवृत्ति में भी निवृत्ति की अनुभूति कराता हुआ निवृत्तिमें प्रवृत्ति का रसायन घोल रहा है ?

सामान्यतः प्रत्येक धार्मिक समाज के अनुयायियों के तीन वर्ग होते हैं – प्रथम वर्ग है कट्टरपंथियों का, दूसरा वर्ग है दुराग्रह से मुक्त लोगों का और तीसरा वर्ग है तत्त्वचिंतकों का । जैन समाज में भी न्यूनाधिक अंश में ऐसे तीन वर्ग अवश्य हैं । जिस प्रकार कोई कट्टर सनातनी, कट्टर मुसलमान या कट्टर क्रिश्चियन अपने अपने धर्म के आचार, व्यवहार या मान्यताओं के ढाँचे को अक्षरशः गांधीजी के जीवन में न देखकर निश्चित रूप से यह मान लेता है कि गांधीजी सच्चे सनातनधर्मी सच्चे मुसलमान या सच्चे क्रिश्चियन नहीं हैं, उसी प्रकार कट्टर जैन भी गांधीजी के जीवन में जैन आचार या जैन रहनसहन के ढंग पूर्णतः न देखने पर प्रामाणिक रूप से यही मान लेता है कि गांधीजी धार्मिक भले ही हों, परंतु उनके जीवन में जैन धर्म के लिए कोई स्थान नहीं है क्यों कि गीता, रामायण आदि द्वारा वे ब्राह्मण धर्म को जो महत्व देते हैं ऐसा महत्व वे जैन धर्म को देते ही नहीं हैं । दूसरे वर्ग के अर्थात् दुराग्रह से मुक्त लोगों का वर्ग उपरोक्त ढांचे में ही धर्म की इति श्री मानता नहीं है तथा कुछ अंशों में आंतरिक गुणों को देखने वाला, समझने वाला एवं विचारक होने के कारण गांधीजी के जीवन में अपने धर्म का सुनिश्चित अस्तित्व देखता है । इस प्रकृतिवाला विचारक अगर सनातनी होगा तो गांधीजी के जीवन में सनातन धर्म का संस्करण देखेगा, मुसलमान या क्रिश्चियन होगा तो वह भी अपने धर्म की छाया देखेगा । उसी प्रकार ऐसी ही विचारधारावाला जैन समुदाय गांधीजी के जीवन में जैन धर्म के प्राण समान अहिंसा, संयम तथा तप की नूतन प्रतिष्ठा देखकर उनके जीवन को जैन धर्ममय मानेगा । तीसरा वर्ग जो अंतर्मुख एवं गुणदर्शी होने के साथ साथ चिंतनशील होने के कारण गांधीजी के जीवन में अपने अपने धर्म का सुनिश्चित

अस्तित्व देखता है । इस प्रकृतिवाला विचारक अगर सनातनी होगा तो गांधीजी के जीवन में सनातन धर्म का संस्करण देखेगा, अगर वह मुसलमान या क्रिश्चियन होगा तो वह भी उनके जीवन में अपने धर्मरूप हृदय की धडकन को सुनेगा । उसी प्रकार की विचारधारा वाला जैन समुदाय गांधीजी के जीवन में जैन धर्म के प्राणभूत अहिंसा, संयम तथा तप की नूतन प्रतिष्ठा को देखकर उनके जीवन का जैन धर्ममय मानेगा । तीसरा वर्ग जो अंतर्मुख एवं गुणदर्शी होने के साथ साथ स्व या पर के विशेषण के बिना ही धर्म के तत्त्व के विषय में चिंतन करता है ऐसे तत्त्वचिंतक वर्ग की दृष्टि में गांधीजी के जीवन में धर्म का अस्तित्व तो है ही, परंतु वह धर्म किसका – इस संप्रदाय का या उस संप्रदाय का – ऐसा नहीं, बल्कि उन सर्व संप्रदायों के प्राण स्वरूप फिर भी सर्व संप्रदायों से पर ऐसा प्रयत्नसिद्ध स्वतंत्र धर्म है । भले इनेगिने ही किंतु ऐसे तत्त्वचिंतक जैन समाज में हैं जो गांधीजी के जीवनगत धर्म को एक असांप्रदायिक एवं असंकीर्ण धर्म मानेंगे, परंतु उसे सांप्रदायिक परिभाषा में जैन धर्म मानने की भूल तो करेंगे ही नहीं ।

संप्रदाय का धर्म नहीं

बिना कहे भी पाठक यह समझ सकेंगे कि यहाँ गांधीजी के जीवन के साथ जैन धर्म के संबंध का प्रश्न प्रस्तुत होने के कारण मैं उस मर्यादा के बाहर अन्य धर्मों से संबंधित विशेष चर्चा नहीं कर सकता हूँ । मैं स्वयं स्वतंत्र दृष्टि से यह दृढ़तापूर्वक मानता हूँ कि गांधीजी के जीवन में उदित, विकसित एवं व्याप्त धर्म किसी संप्रदाय विशेष का धर्म नहीं है । वह तो सर्व संप्रदायों से पर फिर भी सभी तात्त्विक धर्मों के साररूप है जो उनके अपने विवेकपूर्ण सरल-सीधे-सादे प्रयत्नों द्वारा साधा गया है।

'गांधीजी का धर्म किसी एक संप्रदाय में सीमित नहीं रहता, बल्कि उनके धर्म में अन्य सभी संप्रदाय समाविष्ट हो जाते हैं' इस तथ्य को मधुकर के दृष्टांत के द्वारा अधिक अच्छी तरह से समझाया जा सकता है । इमली और आम्रवृक्ष, बबुल और नीम, गुलाब और चंपा जैसे एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न रस और गंधवाले पुष्प एवं पत्र उत्पन्न करनेवाले वृक्ष जहाँ हों वहाँ उन सब में से भिन्न भिन्न प्रकार का रस चूस कर भ्रमर अपना एक छत्ता तैयार करता है । मधुपटल की स्थूल रचना तथा उसमें संचित मधुरस में उन भिन्न भिन्न वृक्षों का रस मिश्रित होता है परंतु वह शहद न तो इमली के जैसा खट्टा होता है, न आम की तरह खट्टा-मीठा । न तो वह नीम के जैसा कडुआ

होता है, न बबूल के जैसा कसैला। न तो उसमें गुलाब का रंगरस होता है, और न चंपा के फूल का रंग-रस। शहद विभिन्न वृक्ष-वनस्पति की सामग्री में से निष्पन्न भले हुआ हो परंतु उसमें मधुकर की क्रियाशीलता तथा पाचन शक्ति का विशेष योगदान होता है। मधुकर के अतिरिक्त अन्य कोई किसी यंत्र की सहायता से या अन्य किसी प्रकार से रस खींचे तो वह और कुछ भी हो सकता है परंतु वह मधुर तो होगा ही नहीं। यह शहद विविध वृक्षों - वनस्पतियों के रस में से तैयार होता है फिर भी शहद की मीठास या उसका पथ्य पोषक तत्त्व किसी भी वृक्ष-वनस्पति में नहीं होता। विविध वनस्पतियों के रसों पर मधुकर की पाचक-शक्ति ने तथा क्रियाशीलता ने जो प्रभाव उत्पन्न किया वही मधु के रूप में अखंड स्वतंत्र वस्तु बन कर तैयार हुई है। उसी प्रकार गांधीजी के जीवनप्रवाह में भले ही विभिन्न धर्मस्रोत आ मिले हों, परंतु ये सभी स्रोत अपना नाम और रूप छोड़कर उनके जीवन पटल में मधुरतम रूप में एक नूतन एवं अपूर्व धर्मस्वरूप में परिवर्तित हो गये हैं, क्यों कि गांधीजी ने उन धर्मों के तत्त्व अपने जीवन में न तो उधार लिये हैं, न बाहरी तत्त्वो के रूप में अपने जीवन में समाविष्ट किये हैं। उन्होंने तो उन तत्त्वो को अपने विवेक एवं क्रियाशीलता के द्वारा आत्मसात् कर उनमें से एक परस्पर कल्याणकारी ऐसा पूर्णतः नूतन धार्मिक दृष्टिबिंदु ही निष्पन्न किया है। गांधीजी वेदों को माननेवाले हैं परंतु वेदों के अनुसार यज्ञ वे कभी नहीं करेंगे। वे गीता का साथ कभी नहीं छोडेंगे परंतु उसमें विहित शस्त्रों के द्वारा दुष्टों के दमन की बात में कभी विश्वास नहीं करेंगे। कुरान का वे आदर करेंगे परंतु किसीको काफिर नहीं मानेंगे। बाइबल के प्रेमधर्म का वे स्वीकार करेंगे लेकिन धर्मांतर को वे पूर्णतः अनावश्यक मानेंगे। सांख्य, जैन एवं बौद्धों के त्याग को अपनायेंगे किंतु जगतरूप मिथिला या मानवरूप मिथिला दुःखाग्नि में जल रही हो - सुलग रही हो तब और बौद्ध जातक महाभारत के विदेहजनक की भाँति या जैनों के नमिराजर्षि की भाँति 'मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है' ऐसा कह कर जलती हुई मिथिला को छोड़ कर एकांत अरण्यवास में नहीं चले जायेंगे।

जैन चिंतनशैली से भिन्न अहिंसा

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि गांधीजी का निरामिष भोजन का आग्रह एक जैन साधु के पास उनके द्वारा ली गई प्रतिज्ञा का परिणाम है तथा अहिंसा से संबंधित उनके दृढ़ विचार श्रीमद् राजचंद्रजी के परिचय का फल है और इस कारण से

गांधीजी का जीवनमार्ग मुख्यतः जैन धर्म प्रधान है । मैं उस प्रतिज्ञा और संसर्ग की बात को स्वीकार करता हूँ फिर भी मेरे विचार से गांधीजी की अहिंसाप्रधान चिंतनशैली अहिंसा से संबंधित जैन चिंतनशैली से भिन्न ही है । सामिष आहार के त्याग की प्रतिज्ञा लेने की प्रेरणा करनेवाले या प्रतिज्ञा देनेवाले अगर आज जीवित हों तो वे गांधीजी के निरामिष आहार के आग्रह को देखकर अवश्य प्रसन्नता का अनुभव करें लेकिन साथ साथ अगर वे देखें कि गांधीजी ऐसा मानते हैं कि गाय भैंस आदि पशुओं का दूध उनके बछड़ों के मुँह से छीन कर पी लेना स्पष्ट रूप से हिंसा ही है, तो वे निश्चित रूप से यही कहेंगे कि यह किस प्रकार की अहिंसा है .. ! श्रीमद् राजचंद्रजी जीवित होते और वे गांधीजी को अशस्त्र प्रतिकार करते देखते – निःशस्त्र युद्ध करते देखते – तो सचमुच प्रसन्न होते, परंतु जब कोई पशु असह्य पीड़ा भोग रहा हो और किसी भी तरह उसे बचाना संभव न हो तब इंजेक्शन आदि की सहायता से उसे प्राणमुक्त करने में भी प्रेमधर्म और अहिंसा ही निहित है ऐसा आचरण करते, मानते या मानने को प्रेरित करते देखते तो वे गांधीजी की मान्यता तथा आचरण को जैन अहिंसा कभी भी न कहते । उसी प्रकार पागल कुत्ते को मार डालना चाहिए अथवा खेती की फसल का नाश करनेवाले बंदरों का विनाश किया जाना चाहिए ऐसी मान्यता का सामाजिक अहिंसा की दृष्टि से समर्थन करनेवाले गांधीजी को श्रीमद् राजचंद्रजी शायद ही जैन–अहिंसा के पोषक मानते । गांधीजी के जीवन में संयम तथा तप का स्थान बहुत उच्च है जो जैन धर्म के विशिष्ट अंग हैं । अनेक प्रकार के कठिन नियमों का सहज रूप में, आसानी से पालन करनेवाले, उपवासों की – लंबे उपवासों की शृंखला के कारण प्रसिद्ध हुए गांधीजी के संयम तथा तप को जैनों की तपश्चर्या या संयम के रूप में शायद ही कोई स्वीकार करेंगे । ब्रह्मचर्य का – किसी भी जैन साधु, किसी भी त्यागी साधक से भी ब्रह्मचर्य का – अधिक सर्वदेशीय मूल्यांकन करनेवाले गांधीजी जब स्वयं किसीका विवाह करवा कर नवदंपती को आशीर्वाद देते होंगे या किसी विधवा के भाल पर सौभाग्य का तिलक करवाते होंगे या किसी के विवाह विच्छेद के लिए अपनी सम्मति देते होंगे तब, मैं मानता हूँ कि शायद ही कोई जैन ऐसा होगा जो गांधीजी के ब्रह्मचर्य को पूर्ण ब्रह्मचर्य मानने के लिए तैयार हो । चाहे कितने ही दिनों के लिए गांधीजी उपवास करें, लेकिन वे उपवास में नींबु का पानी लें अथवा ये उपवास आत्मशुद्धि के साथ साथ सामाजिक शुद्धि एवं राजकीय प्रगति का भी अंग हैं ऐसा मानें और मानने की प्रेरणा

दें तब उनके इतने मूल्यवान इतने महत्त्पूर्ण उपवासों को जैन धर्मानुयायी शायद ही जैन तप कहेंगे।

अहिंसा तथा संयम के तत्त्व

परंपरागत जैन धर्म का उदार दृष्टि से अभ्यास करनेवाला कोई भी विचारक जब गांधीजी के जीवनधर्म के विषय में खुले मन से विचार करता है तब वह इस सत्य का तो अवश्य स्वीकार करता है कि गांधीजी का जीवन व्यवहार हिंसा तथा संयम के तत्त्वों पर प्रतिष्ठित है तथा प्रामाणिकता पूर्वक जैन धर्म का आचरण करनेवाले भूतकालीन या वर्तमानकालीन पुरुषों का आचार व्यवहार भी अहिंसामूलक एवं संयममूलक है। इस प्रकार तो वह विचारक यह मान ही लेता है कि जैन धर्म के प्राणभूत अहिंसा, संयम और तप गांधीजी के जीवन में काम कर रहे हैं। परंतु इससे आगे बढ़कर जब वह विचारक तथ्यों के विषय में विचार करता है तब उसके मन में सचमुच द्विधा उत्पन्न होती है। गांधीजी की अनेकविध प्रवृत्तियों में वह जिस प्रकार अहिंसा का अमल होता देखता है और कई बार गांधीजी के जीवन में अहिंसा के नाम पर ऐसा आचरण देखे जो उनके विधानों से विरुद्ध प्रतीत हो तब जैन परंपरा में पहले से ही मान्य की गई एवं वर्तमान में भी स्वीकृत आचरणाओं के साथ उसकी तुलना करता है और तब उसका उदार चित्त भी प्रामाणिकता पूर्वक ऐसी शंका किये बिना नहीं रह सकता है कि अगर सिद्धांत के रूप में अहिंसा तथा संयम का तत्त्व एक ही हो तो यथार्थ त्यागी ऐसे जैन के जीवन में तथा गांधीजी के जीवन में पूर्णतः विरुद्ध रूप से वे किस प्रकार काम कर सकते हैं ? विचारक का यह प्रश्न आधारविहीन नहीं है। परंतु अगर इसका सही उत्तर हम प्राप्त करना चाहते हैं तो उसके लिए अधिक गहराई में जा कर चिंतन करना होगा।

दृष्टिबिंदु का साम्य

जैनधर्म का दृष्टिबिंदु आध्यात्मिक है और गांधीजी का दृष्टिबिंदु भी आध्यात्मिक है। आध्यात्मिकता अर्थात् अपने मन में स्थित वासनाओं की मलीनता को दूर करना। अति प्राचीन समय के तपस्वी संतों ने देखा कि काम, क्रोध, भय आदि वृत्तियाँ ही मलीनता की जड़ हैं और वही आत्मा की शुद्धता का नाश करती हैं एवं शुद्धता की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करती हैं। अतः उन्होंने इन

वृत्तियों के उन्मूलन का मार्ग लिया। ऐसी वृत्तियों का उन्मूलन करना अर्थात् अपने आपके दोषों को दूर करना। ऐसे दोष अर्थात् हिंसा और उन्हें अपने जीवन में स्थान लेने से रोकना वही अहिंसा। उसी प्रकार ऐसे दोषों में से जन्म लेनेवाली प्रवृत्तियाँ हिंसा है और ऐसी प्रवृत्तियों का त्याग अहिंसा है। इस प्रकार मूलतः अहिंसा का अर्थ अपने दोषों का त्याग ऐसा होते हुए भी उसके साथ तन्मूलक प्रवृत्तियों का त्याग ऐसा दूसरा अर्थ भी जुड़ गया। जो अपनी वासनाओं को निर्मूल करना चाहते हों वे जिन जिन प्रवृत्तियों में इन वासनाओं का संभव हो उन प्रवृत्तियों का भी त्याग करते। यह साधना कुछ आसान नहीं थी। ऐसी दीर्घ साधना हेतु कुछ दुन्यवी प्रपंचों से मुक्त होना अनिवार्य था। अतः दुन्यवी – सांसारिक प्रवृत्तियों से अलग हो कर आध्यात्मिक साधना करने की प्रथा का आरंभ हुआ। यह बात स्पष्ट है कि इस साधना का मूल हेतु था अपने दोषों से निवृत्त होना तथा किसी भी परिस्थिति में उन दोषो से अलिप्त रह सकें ऐसी क्षमता प्राप्त करना। अहिंसा की प्राथमिक तथा मुख्य निवृत्ति सिद्ध करने हेतु संयम के तथा तप के अन्य जितने भी भिन्न भिन्न प्रकार अस्तित्व में आये वे सब प्रायः निवृत्तिलक्षी ही थे और इस कारण से अहिंसा, तप या संयम की सभी परिभाषाएँ निवृत्तिलक्षी ही बनाई गईं। दूसरी ओर आध्यात्मिक शुद्धि की साधना केवल व्यक्तिगत न रही और उसने संघ और समाज में भी स्थान लेना शुरु किया। जैसे जैसे वह संघ तथा समाज में प्रविष्ट होती गई, वह अधिकतर विस्तृत होती गई परंतु उसकी गहराई कम होती गई। संघ और समाज में उस साधना का प्रवेश करवाने हेतु तथा उसे चिरस्थाई – दृढ़तर बनाने हेतु अहिंसा संयम तथा तप के अर्थ के विषय में पुनर्विचारणा की गई और उसमें जो मूलभूत संभावनाएँ थीं तदनुसार उसका विकास भी किया गया।

जैन परंपरा तथा बौद्ध धर्म

दीर्घ तपस्वी भगवान महावीर का जीवन जितना अधिक निवृत्तिलक्षी था उतना निवृत्तिलक्षी उनके समकालीन तथागत बुद्ध का न था। यद्यपि दोनों अपनी अहिंसा को समाजगत करने हेतु प्रयत्नशील थे। बुद्ध ने अहिंसा और संयम को अपने जीवन में पूर्णतः आत्मसात् कर लिया था, फिर भी उन्होंने अहिंसा और संयम के अर्थ को अधिक विस्तृत करते हुए प्रवृत्ति के द्वारा व्यावहारिक लोकसेवा के बीज भी बोये। इस विषय में जैन परंपरा बौद्ध परंपरा की तुलना में कुछ पीछे रही और संयोगवशात् उसमें प्रवृत्ति का परिमित तत्त्व प्रविष्ट होने पर भी निवृत्ति का ही

मुख्यतः साम्राज्य रहा । भगवान बुद्ध ने अपने जीवन तथा उपदेश के द्वारा लोकसंग्रह के जो बीज बोये थे वे आगे जाकर महायान के रूप में विकसित हुए । महायान अर्थात् अन्य लोगों के लौकिक एवं लोकोत्तर कल्याण हेतु अपने आप को मिटा देने की वृत्ति, तो दूसरी ओर महायान की इस भावना के प्रबल प्रवाह के कारण अथवा स्वतंत्र रूप से कदाचित् किसी सांख्यानुयायी दीर्घदृष्टा विचारक ने उन दिनों पर्याप्त प्रतिष्ठाप्राप्त तथा विस्तीर्ण हो रहे वासुदेव धर्म को केन्द्रस्थ बनाकर आज पर्यंत चल रहे प्रवृत्त-निवृत्ति के संघर्ष का समाधान कर के ऐसा सिद्धांत स्थापित किया कि कोई भी समाजगामी धर्म दुन्यवी निवृत्ति – बाह्यनिष्क्रियता पर टिक नहीं सकता । धर्ममय जीवन के लिए भी प्रवृत्ति अनिवार्य है । साथ साथ उसने यह भी स्थापित किया कि कोई भी प्रवृत्ति समाज के लिए तब ही कल्याणकारी सिद्ध होती है अगर वह वैयक्तिक वासनामूलक न होने के कारण स्वार्थ से पर हो ।

निवृत्तिलक्षी आचार

अहिंसा तथा अन्य तन्मूलक सभी आचारों की प्रथम भूमिका निवृत्तिलक्षी होने के कारण उसकी परिभाषा भी निवृत्तिलक्षी ही थी जो आगे चल कर बौद्ध परंपरा तथा वासुदेव परंपरा के प्रभाव के कारण प्रवृत्तिलक्षी एवं लोकसंग्रहपरायण बनी । अहिंसा का अर्थ केवल अभावात्मक न रहा, उसमें विधायक प्रवृत्ति भी जुड़ गई । चित्त में से रागद्वेष को दूर करने के पश्चात् अगर उसमें प्रेम जैसे भावात्मक तत्त्व को स्थान प्राप्त न हो तो खाली पड़ा हुआ वह चित्त पुनः रागद्वेष के बादलों से घिर जायेगा ऐसा सिद्ध हुआ । उसी प्रकार केवल मैथुनविरमण में ब्रह्मचर्य का पूर्ण अर्थ न स्वीकृत होने पर उसका अर्थ विस्तृत हुआ और ऐसा सिद्ध हुआ कि ब्रह्म में अर्थात् सर्व भूतों में स्वयं को और स्वयं में सर्व भूतों को स्थित मान कर आत्मोपममूलक प्रवृत्ति में मग्न रहना वही सच्चा ब्रह्मचर्य है । इस अर्थ में से मैत्री, करुणा आदि भावनाओं का अर्थ भी विस्तीर्ण हुआ और श्री संपूर्णानंदजी ने अपने अंतिम पुस्तक चिद्विलास में कहा है उस प्रकार इन भावनाओं को ब्रह्मविहार माना गया । मैथुन विरमण – (मैथुन का परित्याग) तो इस प्रकार के भावात्मक ब्रह्मचर्य का अंग बना रहा ।

जब निवृत्तिगामी परिभाषाओं को प्रवृत्ति पर भी लागू किया जाने लगा तब उसके प्रभाव से जैन परंपरा भी पूर्णतः अलिप्त तो न रह सकी, परंतु उसमें साधु

संस्था के संविधान तथा अन्य अनेक परिबलों के प्रभाव के कारण जैन परंपरा का व्यवहार निवृत्तिगामी हो रहा और शास्त्र की परिभाषाएँ मुख्यतः निवृत्तिपोषक ही रहीं । यद्यपि इतिहास समाज का गठन भिन्न प्रकार से कर रहा था और वह जैन परंपरा के व्यवहार में एवं शास्त्रीय परिभाषाओं में परिवर्तन की मांग कर रहा था, फिर भी वह कार्य आज तक अपूर्ण ही रहा है ।

संस्कारों का प्रभाव

जब कोई चिंतनशील व्यक्ति जैन परंपरा के आचार–विचार का अनुसरण करता है तथा जैन शास्त्रों का अध्ययन करता है तब हज़ारों वर्ष पूर्व गठित वे मानदंड तथा व्याख्याएँ – वे परिभाषाएँ इतने दृढ़ रूप से उसके मन को प्रभावित करते हैं कि वह उन्हें भेद कर शायद ही सोच सकता है । सिद्धांत एक ही हो, लेकिन वह संयोगों के अनुसार किस प्रकार भिन्न भिन्न रूप से कार्य करता है इस तत्त्व को समझना ऐसी स्थिति में कठिन हो जाता है ।

गांधीजी आध्यात्मिकता सिद्ध करना चाहते थे । उसकी भूमिका के रूप में उन्होंने अपने जीवन में अहिंसा आदि तत्त्वों को स्थान दिया । किंतु उनका दृष्टिबिंदु महायानमार्गी होने के कारण दूसरे लोगों को सुखी देखे बिना स्वयं को सुखी नहीं मान सकते थे । एक तो गांधीजी का दृष्टिबिंदु महायानी और उसमें अहिंसा का तत्त्व जुड़ गया अतः स्वाभाविक रूप से ही उनका जीवन लोककल्याण की दिशा में मुड़ गया और उनकी आध्यात्मिक शुद्धि की दृष्टि ने उन्हें अनासक्त कर्म योग की प्रेरणा दी । अहिंसा के प्रबल संस्कार उन्हें जन्म से ही प्राप्त थे अतः उन्होंने अपनी अहिंसा को प्रवृत्ति के सभी क्षेत्रों में प्रवाहित किया । गीता के अनासक्त कर्मयोग के अनुसार जीवन के गठन हेतु मंथन शुरु किया, फिर भी गीता के सशस्त्र प्रतिकार को टालने हेतु उन्होंने भगीरथ प्रयास भी किया ।

यहाँ की गई चर्चा इतना जानने के लिए पर्याप्त होगी कि जैन परंपरा सामाजिक बनी फिर भी उसके अनुयायियों का रवैया अहिंसा की प्राथमिक भूमिका स्वरूप निवृत्तिलक्षी ही रहा है । जब कि गांधीजी का अहिंसा धर्म आत्मलक्षी एवं समाजलक्षी होने के कारण उसमें सांसारिक – सामाजिक निवृत्ति के आग्रह की संभावना ही नहीं है । समाज के श्रेय एवं प्रेय के हेतु अनेकविध प्रवृत्तियाँ करना ऐसी

विशाल भावना ही उन्हें अनेक प्रकार के परस्पर विरुद्ध हों ऐसे वक्तव्य प्रस्तुत करने को प्रेरित करती थी। यद्यपि वस्तुतः ये वक्तव्य अविरोधी ही माने जा सकते हैं। **गांधीजी ने जैन परंपरा को मान्य ऐसी निवृत्तिपक्षी अहिंसा को अपनाया अवश्य, परंतु उन्होंने अपने सर्वकल्याणकारी सामाजिक ध्येय की सिद्धि हेतु उस अहिंसा के अर्थ को इतना अधिक विस्तृत किया है कि वर्तमान परिस्थिति में गांधीजी का अहिंसा धर्म एक उनका स्वयं का – विशिष्ट धर्म बन गया है।** उसी प्रकार भारत की एवं विदेशों की अनेक अहिंसा विषयक मान्यताओं को उन्होंने अपने लक्ष्य की सिद्धि के अनुकूल हों उस प्रकार से अपने जीवन में बुन लिया और वही उनका स्वतंत्र धर्म बन गया जिसने उनकी विविध प्रवृत्तियों के द्वार खोल दिये। इस दृष्टि से सोच कर यह कहना ही पड़ेगा कि गांधीजी के जीवन में जैन धर्म उसके मूलभूत अर्थ में या पारिभाषिक अर्थ में है ही नहीं। उसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि उनके जीवन में बौद्ध या अन्य कोई भी धर्म उसके सांप्रदायिक अर्थ में है ही नहीं और फिर भी उनके जीवन में जिस प्रकार का धर्म सक्रियरूप से काम कर रहा है उसमें सभी सांप्रदायिक धर्मों का योग्य रूप से समन्वय है।

महान आत्मा

गांधीजी हमारे जैसे ही एक मनुष्य थे। परंतु उनकी आत्मा महान मानी जाती है और वास्तव में उनकी आत्मा महान सिद्ध हुई ही है। और ऐसा हुआ है अहिंसाधर्म के लोक-अभ्युदयकारी विकास के कारण ही।

अगर गांधीजी को कटोरी साफ करने जैसे कार्य से लेकर महानतम सल्तनत के विरुद्ध विद्रोह करने जैसी प्रवृत्ति न करनी पड़ी होती तो अथवा उस प्रवृत्ति में अहिंसा, संयम तथा तप का विनियोग करने की अंतःप्रेरणा न हुई होती, तो उनका अहिंसाधर्म शायद उस निरामिषाहार की प्रतिज्ञा जैसी मर्यादाओं के शब्दशः पालन की सीमा से बाहर आया ही न होता। उसी प्रकार अगर किसी समर्थतम जैन त्यागी के हाथों में समाज की सुवव्यस्था को संभालने का तथा उसमें वृद्धि करने का कार्य सौंपा जाय अथवा यह कहें कि उसे धर्म प्रधान राज्यतंत्र चलाने हेतु सत्ता के सूत्र सौंप दिये जायँ तो वह प्रामाणिक जैन क्या करे ? अगर विरासत में प्राप्त जैन अहिंसा का विकास किये बिना ही कुछ उत्तरदायित्व स्वीकार करना चाहे तो वह असफल

ही होगा। या तो उसे यही कहना पड़े कि समाज तथा राज्यतंत्र के नवनिर्माण जैसे कार्यों में योगदान देना मेरे लिए संभव नहीं है; और अगर वह प्रतिभावान तथा क्रियाशील व्यक्ति हो तो वह सौंपे गये सभी सूत्रों को अपने हाथ में लेकर अपने सिद्धांतों को और आदर्शों को क्रियान्वित करने का प्रयत्न करेगा। उसके इन प्रयत्नों का एक ही परिणाम आ सकता है और वह यह कि जैन परंपरा के एकमात्र निवृत्तिप्रधान संस्कारों में परिवर्तन करते हुए अहिंसा की ऐसी परिभाषा प्रस्तुत करे, सब कुछ विकसित करे जिसमें, उसमें चाहे कितना भी समाजलक्षी एवं व्यावहारिक परिवर्तन हो फिर भी अहिंसा की आत्मारूप मूलभूत तत्त्व - वासनाओं का त्याग तथा सद्‌गुणों का विकास - सुरक्षित रह सके।

गांधीजी का धर्म : एक नूतन धर्म

अगर कोई भी साधक मानवजीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उद्भव होनेवाली नई नई समस्याओं का हल धार्मिक दृष्टि से करना चाहे तो वह आसानी से गांधीजी के जीवन धर्म की दिशा को समझ सकता है। इसीलिए मैं मानता हूँ कि **गांधीजी का जीवन धर्म जीवंत एवं नूतन है। नूतन अर्थात् प्राचीन पर निर्मित अभूतपूर्व महल है। वही कागज, वही तूलिका, वही रंग फिर भी चित्र अदृष्टपूर्व है। सारेगम के उन्हीं स्वरों का अभूतपूर्व संगीत है।** अंग प्रत्यंग वे ही हैं किंतु वह **तांडव अपूर्व है, वह नृत्य अलौकिक है क्यों कि गांधीजी की दृष्टि में इहलोक और परलोक के बीच की भेदरेखा मिट गई है।** मनुष्य के जीवन रूप जलती मिथिला के अंदर ही रह कर उसकी आग बुझाने के प्रयत्न में ही पारलौकिक नरक यंत्रणा का निवारण करने का संतोष है तथा **मानवजीवन में ही स्वर्ग या मोक्ष की संभावना को सिद्ध करने की अदम्य इच्छा है।**

* * * *

लेखांक १०

गांधीजी की जैन धर्म को देन

धर्म के दो रूप होते हैं। संप्रदाय कोई भी हो उसका धर्म बाहरी और भीतरी दो रूपों में चलता रहता है। बाह्य रूप को हम 'धर्म कलेवर' कहें तो भीतरी रूप को 'धर्म चेतना' कहना चाहिए।

धर्म का प्रारम्भ, विकास और प्रचार मनुष्य जाति में ही हुआ है। मनुष्य खुद न केवल चेतन है और न केवल देह। वह जैसे सचेतन देहरूप है वैसे ही उसका धर्म भी चेतनायुक्त कलेवररूप होता है। चेतना की गति, प्रगति और अवगति कलेवर के सहारे के बिना असंभव है। धर्म चेतना भी बाहरी आचार रीति-रस्म, रूढ़ि-प्रणाली आदि कलेवर के द्वारा ही गति, प्रगति और अवनति को प्राप्त होती रहती है।

धर्म जितना पुराना उतने ही उसके कलेवर नानारूप से अधिकाधिक बदलते आते हैं। अगर कोई धर्म जीवित हो तो उसका अर्थ यह भी है कि उसके कैसे भी भद्दे या अच्छे कलेवर में थोड़ा-बहुत चेतना का अंश किसी न किसी रूप में मौजूद हैं। निष्प्राण देह सड़-गल कर अस्तित्व गँवा बैठती है। चेतनाहीन सम्प्रदाय कलेवर की भी वही गति होती है।

जैन परंपरा का प्राचीन नाम-रूप कछ भी क्यों न रहा हो ; पर वह उस समय से अभी तक जीवित है। जब-जब उसका कलेवर दिखावटी और रोगग्रस्त हुआ है तब-तब उसकी धर्मचेतना का किसी व्यक्ति में विशेषरूप से स्पन्दन प्रकट हुआ है। पार्श्वनाथ के बाद महावीर में स्पन्दन तीव्र रूप से प्रकट हुआ जिसका इतिहास साक्षी है।

धर्मचेतना के मुख्य दो लक्षण हैं जो सभी धर्म-संप्रदायों में व्यक्त होते हैं। भले ही उस आविर्भाव में तारतम्य हो। पहला लक्षण है, अन्य का भला करना और दूसरा लक्षण है अन्य का बुरा न करना। ये विधि-निषेधरूप या हकार-नकार रूप साथ ही साथ चलते हैं। एक के सिवा दूसरे का संभव नहीं। जैसे-जैसे धर्मचेतना का विशेष और उत्कट स्पन्दन वैसे-वैसे ये दोनों विधि निषेध रूप भी अधिकाधिक सक्रिय होते हैं। जैन-परम्परा की ऐतिहासिक भूमिका को हम देखते हैं तो मालूम पड़ता है कि उसके इतिहास काल से ही धर्मचेतना के उक्त दोनो लक्षण असाधारण रूप में पाये जाते हैं। जैन-परंपरा का ऐतिहासिक पुरावा कहता है कि सब का अर्थात् प्राणीमात्र का – जिसमें मनुष्य, पशु-पक्षी के अलावा सूक्ष्म कीट जंतु तक का समावेश हो जाता है – सब तरह से भला कर। इसी तरह प्राणीमात्र को किसी भी प्रकार से तकलीफ न दो। यह पुरावा कहता है कि जैन परंपरागत धर्मचेतना की भूमिका प्राथमिक नहीं है। मनुष्य जाति के द्वारा धर्मचेतना का जो क्रमिक विकास हुआ है उसका परिपक्व रूप उस भूमिका में देखा जाता है। ऐसे परिपक्व विचार का श्रेय ऐतिहासिक दृष्टि से भगवान् महावीर को तो अवश्य है ही।

कोई भी सत्पुरुषार्थी और सूक्ष्मदर्शी धर्म पुरुष अपने जीवन में धर्मचेतना का कितना ही स्पंदन क्यों न करे पर वह प्रकट होता हैं सामयिक और देशकालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के द्वारा। हम इतिहास से जानते हैं कि महावीर ने सब का भला करना और किसी को तकलीफ न देना इन दो धर्मचेतना के रूपों को अपने जीवन में ठीक-ठीक प्रकट किया। प्रकटीकरण सामयिक जरूरतों के अनुसार मर्यादित रहा। मनुष्य जाति की उस समय और उस देश की निर्बलता, जातिभेद में, छूआछूत में, स्त्री की लाचारी में और यज्ञीय हिंसा में थी। महावीर ने इन्हीं निर्बलताओं का सामना किया। क्योंकि उनकी धर्मचेतना अपने आस-पास प्रवृत्त अन्याय को सह न सकती थी। इसी करुणावृत्ति ने उन्हें अपरिग्रही बनाया। अपरिग्रह भी ऐसा कि जिसमें न घर-बार और न वस्त्रपात्र। इसी करुणावृत्ति ने उन्हें दलित पतित का उद्धार करने को प्रेरित किया। यह तो हुआ महावीर की धर्मचेतना का स्पंदन।

पर उनके बाद यह स्पंदन ज़रूर मंद हुआ और धर्मचेतना का पोषक धर्म कलेवर बहुत बढ़ते बढ़ते उस कलेवर का कद और वजन इतना बढ़ा कि कलेवर की पुष्टि और वृद्धि के साथ ही चेतना का स्पंदन मंद होने लगा। जैसे पानी सुखते ही या

कम होते ही नीचे की मिट्टी में दरारें पड़ती हैं और मिट्टी एकरूप न रह कर विभक्त हो जाती है वैसे ही जैन परम्परा का धर्मकलेवर भी अनेक टुकड़ों में विभक्त हुआ और वे टुकड़े स्पंदन के मिथ्या अभिमान से प्रेरित होकर आपस में ही लड़ने-झगड़ने लगे। जो धर्मचेतना के स्पंदन का मुख्य काम था वह गौण हो गया और धर्मचेतना की रक्षा के नाम पर वे मुख्यतया गुज़ारा करने लगे।

धर्म-कलेवर के फिरकों में धर्मचेतना कम होते ही आसपास के विरोधी दलों ने उनके ऊपर बुरा असर डाला। सभी फिरके मुख्य उद्देश्य के बारे में इतने निर्बल साबित हुए कि कोई अपने पूज्य पुरुष महावीर की प्रवृत्ति की योग्य रूपमें आगे न बढ़ा सके। स्त्री-उद्धार की बात करते हुए भी वे स्त्री के अबलापन के पोषक ही रहे। उच्च-नीच भाव और छूआछूत को दूर करने की बात करते हुए भी के जातिवादी ब्राह्मण परम्परा के प्रभाव से बच न सके और व्यवहार तथा धर्मक्षेत्र में उच्च-नीच भाव और छूआछूतपने के शिकार बन गये। यज्ञीय हिंसा के प्रभाव से वे जरूर बच गये और पशु पक्षी की रक्षा में उन्होंने हाथ ठीक ठीक बटाया; पर वे अपरिग्रह के प्राण मूर्छा त्याग को गँवा बैठे। देखने में तो सभी फिरके अपरिग्रही मालूम होते रहे; पर अपरिग्रह का प्राण उनमें कम से कम रहा। इसलिए सभी फिरकों के त्यागी अपरिग्रह व्रत की दुहाई देकर नंगे पांव से चलते देखे जाते हैं, लुंचन रूप से बाल तक हाथ से खींच डालते हैं, निर्वसन भाव भी धारण करते देखे जाते हैं, सूक्ष्म-जन्तु की रक्षा के निमित्त मुँह पर कपड़ा तक रख लेते हैं; पर वे अपरिग्रह के पालन में अनिवार्य रूप से आवश्यक ऐसा स्वावलंबी जीवन करीब-करीब गँवा बैठे हैं। उन्हें अपरिग्रह का पालन गृहस्थों की मदद के सिवाय सम्भव नहीं दीखता। फलतः, वे अधिकाधिक पर परिश्रमावलम्बी हो गए हैं।

बेशक, पिछले ढ़ाई हज़ार वर्षो में देश के विभिन्न भागों में ऐसे इने-गिने अनागार त्यागी और सागार गृहस्थ अवश्य हुए हैं जिन्होंने जैन परम्परा की मूर्छित-सी धर्मचेतना में स्पन्दन के प्राण फूँके। पर एक तो वह स्पन्दन साम्प्रदायिक ढंग का था जैसा कि अन्य सम्प्रदायों में हुआ है और दूसरे वह स्पन्दन ऐसा कोई दृढ़ नींव पर न था जिससे चिरकाल तक टिक सके। इसलिए बीच बीच में प्रकट हुए धर्मचेतना के स्पन्दन अर्थात् प्रभावनाकार्य सतत चालू रह न सके।

पिछली शताब्दी में तो जैन समाज के त्यागी और गृहस्थ दोनों की मनोदशा विलक्षण-सी हो गई थी। वे परम्पराप्राप्त सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह के आदर्श संस्कार की महिमा को छोड़ भी न सकते थे और जीवनपर्यन्त वे हिंसा, असत्य और परिग्रह के संस्कारो का ही समर्थन करते जाते थे। ऐसा माना जाने लगा था कि कुटुम्ब, समाज, ग्राम राष्ट्र आदि से संबंध रखनेवाली प्रवृत्तियाँ सांसारिक हैं, दुनियावी हैं, व्यावहारिक हैं। इसलिए ऐसी आर्थिक औद्योगिक और राजकीय प्रवृत्तियों में न तो सत्य साथ दे सकता है, न अहिंसा काम कर सकती है और न अपरिग्रह व्रत ही कार्यसाधक बन सकता है। ये धर्म सिद्धान्त सच्चे हैं सही, पर इनका शुद्ध पालन दुनिया के बीच संभव नहीं। इसके लिए तो एकान्त वनवास और संसार त्याग ही चाहिये। इस विचार ने अनागार त्यागियों के मन पर भी ऐसा प्रभाव जमाया था कि वे रात-दिन सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह का उपदेश करते हुए भी दुनियावी-जीवन में उन उपदेशों के सच्चे पालन का कोई रास्ता दिखा न सकते थे। वे थक कर यही कहते थे कि अगर सच्चा धर्म पालन करना हो तो तुम लोग घर छोड़ो, कुटुम्ब समाज और राष्ट्र की जवाबदेही छोड़ो, ऐसी जवाबदेही और सत्य-अहिंसा अपरिग्रह का शुद्ध पालन-दोनों एक साथ संभव नहीं। ऐसी मनोदशा के कारण त्यागी गण देखने में अवश्य अनगार था ; पर उसका जीवन तत्त्वदृष्टि से किसी भी प्रकार गृहस्थों की अपेक्षा विशेष उन्नत या विशष शुद्ध बनने न पाया था। इसलिए जैन समाज की स्थिति ऐसी हो गई थी कि हज़ारों की संख्या में साधु-साध्वियाँ के सतत होते रहने पर भी समाज के उत्थान का कोई सच्चा काम होने न पाता था और अनुयायी गृहस्थवर्ग तो साधु साध्वियों के भरोसे रहने का इतना आदी हो गया था कि वह हर एक बातमें निकम्मी प्रथा का त्याग, सुधार, परिवर्तन वगैरह करने में अपनी बुद्धि और साहस ही गवाँ बैठा था। त्यागी वर्ग कहता था कि हम क्या करें ? यह काम तो गृहस्थों का है। गृहस्थ कहते थे कि हमारे सिरमौर गुरु हैं। वे महावीर के प्रतिनिधि हैं, शास्त्रज्ञ हैं, वे हमसे अधिक जान सकते हैं, उनके सुझाव और उनकी सम्मति के बिना हम कर ही क्या सकते हैं ? गृहस्थों का असर ही क्या पड़ेगा ? साधुओं के कथन को सब लोग मान सकते हैं इत्यादि। इस तरह अन्य धर्म समाजों की तरह जैन समाज की नैया भी हर एक क्षेत्र में उलझनों की भँवर में फँसी थी।

सारे राष्ट्र पर पिछली सहस्राब्दी ने जो आफतें ढ़ाई थीं और पश्चिम के सम्पर्क के बाद विदेशी राज्य ने पिछली दो शताब्दियों में गुलामी, शोषण और आपसी फुट की जो आफत बढ़ाई थी उसका शिकार तो जैन समाज शतप्रतिशत था ही, पर उसके अलावा जैन समाज के अपने निजी भी प्रश्न थे। जो उलझनों से पूर्ण थे। आपस में फिरकाबन्दी, धर्म के निमित्त अधर्म पोशक झगडे, निवृत्ति के नाम पर निष्क्रियता और ऐदीपन की बाढ़, नई पीढ़ी में पुरानी चेतना का विरोध और नई चेतना का अवरोध, सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह जैसे शाश्वत मूल्यवाले सिद्धान्तों के प्रति सब की देखा देखी बढ़ती हुई अश्रद्धा - ये जैन समाज की समस्याएँ थीं।

इस अन्धकार प्रधान रात्रि में अफ्रिका से एक कर्मवीर की हलचल ने लोगों की आंखें खोली। वही कर्मवीर फिर अपनी जन्म-भूमि भारत में पीछे लौटा। आते ही सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह की निर्भय और गगनभेदी वाणी शान्तस्वर से और जीवन-व्यवहार से सुनाने लगा। पहले तो जैन समाज अपनी संस्कार-च्युति के कारण चौंका। उसे भय मालूम हुआ कि दुनिया की प्रवृत्ति या सांसारिक राजकीय प्रवृत्ति के साथ सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह का मेल कैसे बैठ सकता है ? ऐसा हो तो फिर त्याग मार्ग और अनगार धर्म जो हज़ारों वर्ष से चला आता है वह नष्ट ही हो जाएगा। पर जैसे-जैसे कर्मवीर गांधी एक के बाद एक नए-नए सामाजिक और राजकीय क्षेत्र को सर करते गए और देश के उच्च से उच्च मस्तिष्क भी उनके सामने झुकने लगे; कवीन्द्र रवीन्द्र, लाला लाजपतराय, देशबंधु दास, मोतीलाल नेहरू आदि मुख्य राष्ट्रीय पुरुषों ने गांधीजी का नेतृत्व मान लिया, वैसे-वैसे जैन समाज की भी सुषुप्त और मूर्च्छित-सी धर्म चेतना में स्पन्दन शुरू हुआ। स्पन्दन की लहर क्रमशः ऐसी बढ़ती और फैलती गई कि जिसने ३५ वर्ष के पहले की जैन-समाज की बाहरी और भीतरी दशा आँखों देखी है और जिसने पिछले ३५ वर्षों में गांधीजी के कारण जैन-समाज में सत्वर प्रकट होनेवाले सात्विक धर्म-स्पन्दनों को देखा है वह यह बिना कहे नहीं रह सकता कि जैन-समाज की धर्म चेतना - जो गांधीजी की देन है - वह इतिहास काल में अभूतपूर्व है। अब हम संक्षेप में यह देखें कि गांधीजी की यह देन किस रूप में है।

जैन-समाज में जो सत्य और अहिंसा की सार्वत्रिक कार्यक्षमता के बारे में अविश्वास की जड़ जमी थी, गांधीजी ने देश में आते ही सबसे प्रथम उस पर

कुठाराघात किया। जैन लोगों के दिल में सत्य और अहिंसा के प्रति जन्मसिद्ध आदर तो था ही। वे सिर्फ प्रयोग करना जानते न थे और न कोई उन्हें प्रयोग के द्वारा उन सिद्धान्तों की शक्ति दिखाने वाला था। **गांधीजी के अहिंसा और सत्य के सफल प्रयोगों ने और किसी समाज की अपेक्षा सबसे पहले जैन-समाज का ध्यान खींचा।** अनेक बूढ़े तरुण और अन्य शुरू में कुतूहलवश और पीछे लगन से गांधीजी के आसपास इकट्ठे होने लगे। जैसे-जैसे गांधीजी के अहिंसा और सत्य के प्रयोग अधिकाधिक समाज और राष्ट्रव्यापी होते गए वैसे-वैसे जैनसमाज को विरासत में मिली अहिंसावृत्ति पर अधिकाधिक भरोसा होने लगा और फिर तो वह उन्नत-मस्तक और प्रसन्न-वदन से कहने लगा कि **'अहिंसा परमो धर्मः' यह जो जैन परंपरा का मुद्रालेख है उसी की यह विजय है। जैन परम्परा स्त्री की समानता और मुक्ति का दावा तो करती ही आ रही थी; पर व्यवहार में उसे उसके अबलापन के सिवाय कुछ नज़र आता न था।** उसने मान लिया था कि त्यक्ता, विधवा और लाचार कुमारी के लिए एक मात्र बलप्रद मुक्तिमार्ग साध्वी बनने का है। पर गांधीजी के जादू ने यह साबित कर दिया कि गर स्त्री किसी अपेक्षा से अबला है तो पुरुष भी अबल ही है। अगर पुरुष को सबल मान लिया जाए तो स्त्री के अबला रहते वह सबल बन नहीं सकता। कई अंशों में तो पुरुष की अपेक्षा स्त्री का बल बहुत है। यह बात गांधीजी ने केवल दलीलों से समझाई न थी पर उनके जादू से स्त्री-शक्ति इतनी अधिक प्रकट हुई कि अब तो पुरुष उसे अबला कहने में सकुचाने लगा। **जैन स्त्रियों के दिल में भी ऐसा कुछ चमत्कारिक परिवर्तन हुआ कि वे अब अपने को शक्तिशाली समझकर जवाबदेही के छोटे-मोटे अनेक काम करने लगी** और आमतौर से जैन-समाज में यह माना जाने लगा कि जो स्त्री ऐहिक बन्धनों से मुक्ति पाने में असमर्थ है वह साध्वी बनकर भी पारलौकिक मुक्ति पा नहीं सकती। इस मान्यता से जैन बहनों के सूखे और पीले चेहरे पर सुर्खी आ गई और वे देश के कोने-कोने में जवाबदेही के अनेक काम सफलतापूर्वक करने लगीं। अब उन्हें त्यक्तापन, विधवापन या लाचार कुमारीपन का कोई दुःख नहीं सताता। यह स्त्री-शक्ति का कायापलट है। यों तो जैन लोग सिद्धान्त रूप से जातिभेद और छुआछूत को बिलकुल मानते न थे और इसी में अपनी परम्परा का गौरव भी समझते थे; पर इस सिद्धान्त को व्यापक तौर से वे अमल में लाने में असमर्थ थे। गांधीजी की प्रायोगिक अंजनशलाका ने जैन समझदारों के नेत्र खोल दिए और उनमें साहस भर दिया, फिर तो वे हरिजन या अन्य दलितवर्ग को समान

भाव से अपनाने लगे । अनेक बूढ़े और युवक स्त्री-पुरुषों का खास एक वर्ग देश भर के जैन समाज में ऐसा तैयार हो गया है कि वह अब रूढ़िचुस्त मानस की बिलकुल परवाह बिना किये हरिजन और दलित वर्ग की सेवा में या तो पड़ गया है, या उसके लिए अधिकाधिक सहानुभूतिपूर्वक सहायता करता है ।

जैन-समाज में महिमा एक मात्र त्याग की रही ; पर कोई त्यागी निवृत्ति और प्रवृत्ति का सुमेल साध न सकता था । वह प्रवृत्ति मात्र को निवृत्ति विरोधी समझकर अनिवार्य रूप से आवश्यक ऐसी प्रवृत्ति का बोझ भी दूसरों के कन्धे पर डालकर निवृत्ति का सन्तोष अनुभव करता था । गांधीजी के जीवन ने दिखा दिया कि निवृत्ति और प्रवृत्ति वस्तुतः परस्पर विरुद्ध नहीं है । ज़रूरत है तो दोनों के रहस्य पाने की । समय प्रवृत्ति की माँग कर रहा था और निवृत्ति की भी । सुमेल के बिना दोनों निरर्थक ही नहीं बल्कि समाज और राष्ट्र-घातक सिद्ध हो रहे थे । गांधीजी के जीवन में निवृत्ति और प्रवृत्ति का ऐसा सुमेल जैन समाज ने देखा जैसा गुलाब के फूल और सुवास का । फिर तो मात्र गृहस्थों की ही नहीं, बल्कि त्यागी अनगारों तक की आंखें खुल गईं । उन्हें अब जैन शास्त्रों का असली मर्म दिखाई दिया या वे शास्त्रों को नए अर्थ में नए सिरे से देखने लगे । कई त्यागी अपना भिक्षुवेष रखकर भी या छोड़कर भी निवृत्ति प्रवृत्ति के गंगा-यमुना संगम मे स्नान करने आए और वे अब भिन्न-भिन्न सेवा क्षेत्रो में पड़कर अपना अनगारपना सच्चे अर्थ में साबित कर रहे हैं । जैन गृहस्थ की मनोदशा में भी निष्क्रिय निवृत्ति का जो घुन लगा था वह हटा और अनेक बूढ़े जवान निवृत्ति-प्रिय जैन स्त्री-पुरुष निष्काम प्रवृत्ति का क्षेत्र पसन्द कर अपनी निवृत्ति-प्रियता को सफल कर रहे हैं । पहले भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए एक ही रास्ता था कि या तो वे वेष धारण करने के बाद निष्क्रिय बनकर दूसरों की सेवा लेते रहें, या दूसरों की सेवा करना चाहें तो वेष छोड़कर प्रतिष्ठित बन समाजबाह्य हो जाएँ। गांधीजी के नए जीवन के नए अर्थ ने निष्प्राण से त्यागी वर्ग में भी धर्मचेतना का प्राण स्पन्दन किया । अब उसे न तो जरूरत रही भिक्षुवेष फेंक देने की और न डर रहा अप्रतिष्ठित रूप से समाजबाह्य होने का । अब निष्काम सेवाप्रिय जैन भिक्षुगण के लिए गांधीजी के जीवन ने ऐसा विशाल कार्य-प्रदेश चुन दिया है, जिसमें कोई भी त्यागी निर्दम्भ भाव से त्याग का आस्वाद लेता हुआ समाज और राष्ट्र के लिए आदर्श बन सकता है ।

जैन परंपरा को अपने तत्त्वज्ञान के अनेकान्त सिद्धान्त का बहुत बड़ा गर्व था वह समझती थी कि ऐसा सिद्धान्त अन्य किसी धर्म परम्परा को नसीब नहीं है ; पर खुद जैन परंपरा उस सिद्धान्त का सर्वलोकहितकारक रूप से प्रयोग करना तो दूर हा, पर अपने हित में भी उसका प्रयोग करना जानती न थी। वह जानती थी इतना ही कि उस वाद के नाम पर भंगजाल कैसे किया जा सकता है और विवाद में विजय कैसे पाया जा सकता है ? **अनेकान्तवाद के हिमायती क्या गृहस्थ क्या त्यागी सभी फिरकेबन्दी और गच्छ गण के ऐकान्तिक कदाग्रह और झगड़े में फँसे थे। उन्हें यह पता ही न था कि अनेकान्त का यथार्थ प्रयोग समाज और राष्ट्र की सब प्रवृत्तियों में कैसे सफलतापूर्वक किया जा सकता है ?** गांधीजी तख्ते पर आए और कुटुम्ब, समाज, राष्ट्र की सब प्रवृत्तियों में अनेकान्त दृष्टि का ऐसा सजीव और सफल प्रयोग करने लगे कि जिससे आकृष्ट होकर समझदार जैनवर्ग यह अन्तःकरण से महसूस करने लगा कि भंगजाल और वादविजय में तो अनेकान्त का कलेवर ही है। उसकी जान नहीं ! **जान तो व्यवहार के सब क्षेत्रो में अनेकान्त दृष्टि का प्रयोग करके विरोधी दिखाई देने वाले बलों का संघर्ष मिटाने में ही है।**

जैन-परम्परा में विजय सेठ और विजया सेठानी इन दम्पती युगल के ब्रह्मचर्य की बात है। जिसमें दोनों का साहचार्य और सहजीवन होते हुए भी शुद्ध ब्रह्मचर्य पालन का भाव है। इसी तरह स्थूलिभद्र मुनि के ब्रह्मचर्य की भी कहानी है जिससे एक मुनि ने अपनी पूर्वपरिचित वेश्या के सहवास में रहकर भी विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन किया है। अभी तक ऐसी कहानियाँ लोकोत्तर समझी जाती रहीं। सामान्य जनता यही समझती रही कि कोई दम्पती या स्त्री-पुरुष साथ रहकर विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन करे तो वह दैवी चमत्कार जैसा है। पर गांधीजी के ब्रह्मचर्यवास ने इस अति कठिन और लोकोत्तर समझी जानेवाली बात को प्रयत्नसाध्य पर इतनी लोकगम्य साबित कर दिया कि आज अनेक दम्पती और स्त्री-पुरुष साथ रहकर विशुद्ध ब्रह्मचर्य पालन करने का निर्दम्भ प्रयत्न करते हैं। जैन समाज में भी ऐसे अनेक युगल मौजूद हैं। अब उन्हें कोई स्थूलिभद्र की कोटि में नहीं गिनता। हालाँकि उनका ब्रह्मचर्य पुरुषार्थ वैसा ही है। रात्रि-भोजन त्याग और उपभोग-परिभोगपरिमाण तथा उपवास, आयंबिल, जैसे व्रत-नियम-नए युग में केवल उपहास की दृष्टि से देखे जाने लगे थे और श्रद्धालु लोग इन व्रतों का आचरण करते

हुए भी कोई तेजस्विता प्रकट कर न सकते थे । उन लोगों का व्रत–पालन केवल रूढ़िधर्म–सा दीखता था । मानों उनमें भावप्राण रहा ही न हो । गांधीजी ने इन्हीं व्रतों में ऐसा प्राण फूँका कि आज कोई इनके मखौल का साहस नहीं कर सकता । गांधीजी के उपवास के प्रति दुनिया–भर का आदर है । उनके रात्रि भोजन त्याग और इने–गिने खाद्य पेय के नियम को आरोग्य और सुभीते की दृष्टि से भी लोग उपादेय समझते हैं । हम इस तरह की अनेक बातें देख सकते हैं जो परम्परा से जैन समाज में चिरकाल से चली आती रहने पर भी तेजोहीन–सी दीखती थी; पर अब गांधीजी के जीवन ने उन्हें आदरास्पद बना दिया है ।

जैन परंपरा के एक नहीं अनेक सुसंस्कार जो सुप्त या मूर्च्छित पड़े थे उनकी गांधीजी की धर्म चेतना ने स्पन्दित किया, गतिशील किया और विकसित भी किया। यही कारण है कि अपेक्षाकृत इस छोटे से समाज ने भी अन्य समाजों की अपेक्षा अधिकसंख्यक सेवाभावी स्त्री–पुरुषों को राष्ट्र के चरणों पर अर्पित किया है। जिसमें बूढ़े–जवान स्त्री–पुरुष, होनहार तरुण–तरुणी और भिक्षु वर्ग का भी समावेश होता है ।

मानवता के विशाल अर्थ में तो जैन समाज अन्य समाजों से अलग नहीं । फिर भी उसके परम्परागत संस्कार अमुक अंश में इतर समाजों से जुदे भी हैं । ये संस्कार मात्र धर्मकलेवर थे; धर्मचेतना की भूमिका को छोड़ बैठे थे । यों तो गांधीजी ने विश्व भर के समस्त संप्रदायों की धर्म चेतना को उत्प्राणित किया है; पर साम्प्रदायिक दृष्टि से देखें तो जैन समाज को मानना चाहिए कि उनके प्रति गांधीजी की बहुत और अनेकविध देन है । क्योंकि गांधीजी की देन के कारण ही अब जैन समाज अहिंसा, स्त्री–समानता, वर्ग समानता, निवृत्ति और अनेकान्त दृष्टि इत्यादि अपने विरासतगत पुराने सिद्धान्तों को क्रियाशील और सार्थक साबित कर सकता है।

जैन परंपरा में 'ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो जिनो वा नमस्तस्मै' जैसे सर्वधर्म समन्वयकारी अनेक उद्गार मौजूद थे । पर आमतौर से उसकी धर्मविधि और प्रार्थना बिलकुल सांप्रदायिक बन गई थी । उसका चौका इतना छोटा बन गया था कि उसमें उक्त उद्गार के अनुरूप सब संप्रदायों का समावेश दुःसंभव हो गया था। पर गांधीजी की धर्मचेतना ऐसी जागरित हुई कि धर्मों की बाड़ा बँदी का स्थान रहा

ही नहीं। गांधीजी की प्रार्थना जिस जैन ने देखी सुनी हो वह कृतज्ञतापर्वक बिनाकबूल किये रह नही सकता कि **'ब्रह्मा वा विष्णुर्वा' की उदात्त भावना या 'राम कहो रहिमान कहो' की अभेद भावना जो जैन परम्परा में मात्र साहित्यिक वस्तु बन गई थी; उसे गांधीजी ने और विकसित रूप में सजीव और शाश्वत किया।**

हम गांधीजी की देन को एक-एक करके न तो गिना सकते हैं और न ऐसा भी कर सकते हैं कि गांधीजी की अमुक देन तो मात्र जैन समाज के प्रति ही है और अन्य समाज के प्रति नहीं। वर्षा होती है तब क्षेत्रभेद नहीं देखती। सूर्य चन्द्र प्रकाश फैकते हैं तब भी स्थान या व्यक्ति का भेद नहीं करते। तो भी जिसके घटे में पानी आया और जिसने प्रकाश का सुख अनुभव किया, वह तो लौकिक भाषा में यही कहेगा कि वर्षा या चन्द्र सूर्य ने मेरे पर इतना उपकार किया। इसी न्याय से इस जगह गांधीजी की देन का उल्लेख है, न कि उस देन की मर्यादा का।

गांधीजी के प्रति अपने ऋण को अंश से भी तभी अदा कर सकते हैं जब उनके निर्दिष्ट मार्ग पर चलने का दृढ़ संकल्प करें और चलें।

* * * * *

लेखांक ११

दोनों कल्याणकारी : जीवन और मृत्यु

गांधीजी को दुनिया ने महात्मा कहा । क्यों कि उनका जीवन महान था। जिनका जीवन ही महान हो उनकी मृत्यु भी महान ही होगी । गांधीजी का जीवन महान क्यों माना जाता है ? इस प्रश्न का उत्त केवल एक ही है और वह यह कि बाल्यकाल से लेकर अंतिम क्षण तक केवल प्रेम की भावना, सत्य तथा औरों का भला करने की वृत्ति एवं प्रवृत्ति ही अस्खलितरूप से एवं उत्तरोत्तर विकसित रूप में और अधिक से अधिक विकसित रूप में उनको दृष्टि समक्ष रही है । भगवान बुद्ध की मृत्यु के बाद लोगों में शोक व्याप्त हुआ था, परंतु यह शोक अधिकतर उनके भिक्षुगण एवं गृहस्थवर्ग में ही व्याप्त था ऐसा हम कह सकते हैं । भगवान महावीर के निर्वाण के समय व्याप्त शोक भी प्रायः उसी प्रकार का था, यद्यपि उन दिनों, समाचार फैलाने के साधन आज के जैसे नहीं थे । गांधीजी के निधन के समाचार वर्तमान समय के प्रसार साधनों के कारण विश्वव्यापी बने, कितु विश्वव्यापी शोक का केवल यही एक कारण नहीं है । वास्तव में उनका आंतरिक एवं बाह्य जीवन ऐसा विश्वव्यापी बन गया था कि उनका स्थूल शरीर कहीं भी हों, उनका संदेश दुनिया के प्रत्येक भाग में एक ही समय में अक्षुण्ण रूप से पहुंच जाता था और शिक्षित या अशिक्षित, इस धर्म के अनुयायी या उस धर्म के अनुयायी, इस देश के या उस देश के लोग गांधीजी के विषय में इतना तो स्वीकार कर ही लेते कि वे जो कुछ कहते हैं, जो भी संदेश देते हैं वह सब उनके आचरण का ही परिणाम है । सब के मन में दृढ़ विश्वास था कि गांधीजी का चिंतन, कथन और कार्य भिन्न भिन्न हो ही नहीं सकते । विश्वहृदय में गांधीजी की प्रतिष्ठा केवल इसी वजह से थी । वे सब के हृदय के राम बन गये वह केवल सत्यनिष्ठा और करुणावृत्ति के कारण ही । इसी वजह से हम गांधीजी के जीवन को महान कहते हैं।

योगशास्त्र में कहा है कि चित्तरूप नदी का प्रवाह दोनों दिशाओं में बहता है। वह कल्याण की दिशा में भी बह सकता है और अकल्याण की दिशा में भी बह सकता है। योगशास्त्र के इस कथन की पुष्टिस्वरूप है हमारा नित्य का अनुभव। गांधीजी हमारे ही जैसे तथा हमारे साथ ही रहने वाले साधारण मनुष्य ही थे, परंतु उनके चित्त का प्रवाह सदा-सर्वदा एक ही दिशा में बहा है वह विश्वविदित तथ्य है। और वह दिशा भी है केवल कल्याण की ही। गांधीजी ने अपनी संपूर्ण शक्ति का प्रवाह लोककल्याण के मार्ग पर ही मोड़ा है – बहाया है। इसकी तैयारी करने के लिए न तो वे किसी मठ में गये हैं, न किसी वन में या पर्वत की गुफा में। मन के सहज अधोगामी झुकाव एवं अकल्याणकारी संस्कारों के प्रवाह को ऊर्ध्वगामी दिशा में एवं केवल कल्याणकारी प्रवृत्ति कें प्रवाह में परिवर्तित कर दे़ा – यह कार्य न तो किसी शूरवीर के लिए आसान है, न किसी सत्ताधारी के लिए। यह काम तो बड़े से बड़े साधकों की भी कसौटी कराये उतना कठिन है। परंतु गांधीजी की सत्य एवं प्रेम के प्रति अनन्य निष्ठा तथा सत्यप्रेममय ईश्वर पर उनकी अचल श्रद्धा ने उनके लिए यह कार्य पूर्णतः सरल सा ही बना दिया था। इसी कारण से गांधीजी सब को एक समान रूप से ज़ोर दे कर कहते रहते थे कि मैं आप लोगों से भिन्न नहीं हूँ – आप लोगों के जैसा ही हूँ। मैं जो कुछ कर सका हूँ वह किसी भी स्त्री या पुरुष, युवान या वृद्ध के लिए अगर वह दृढ़ निश्चय करे तो करना सरल है। गांधीजी केवल विवेक तथा सत्पुरुषार्थ पर ज़ोर देते थे। उनका ईश्वर उसी में समाविष्ट हो जाता था। प्रत्येक मनुष्य में विवेक एवं पुरुषार्थ के बीज तो होते ही हैं।

अतः प्रत्येक मनुष्य ईश्वर एवं ब्रह्मरूप है। प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा में निवास करनेवाले ऐसे सच्चिदानंदमय अंतर्यामी को अपने व्यवहार तथा विचार के द्वारा जाग्रत करने हेतु गांधीजी रातदिन प्रयत्नशील रहते और उसीमें अक्षुण्ण आनंद का अनुभव करते।

मनुष्य सन्मार्ग का अनुसरण करे या न करे परंतु उसके मन में एक या दूसरे ढंग से सन्मार्ग की प्रतिष्ठा तो अवश्य होती है। इस कारण से गांधीजी के सन्मार्ग-दर्शन का अनुसरण करनेवाला भी और कई बार तो उससे पूर्णतः विपरीत मार्ग पर चलनेवाला भी उनके इस रवैये से उनके इस प्रकार के व्यवहार से आकृष्ट होता और एक या दूसरे रूप में उनका प्रशंसक बन जाता। इसलिए यह कह सकते हैं कि अन्य किसी भी महान व्यक्ति के जीवन ने जितने मनुष्यों के हृदय में स्थान प्राप्त किया हो

उससे कहीं अधिक मनुष्यों के हृदय में गांधीजी के जीवन ने स्थान प्राप्त किया था। इस प्रकार के स्थान के कारण ही लोगों ने उन्हें महान आत्मा-महात्मा कहा और उनका जीवन महत् माना गया।

अतीत के इतिहास में या नवयुग के इतिहास में ऐसा कोई भी उदाहरण है जिसमें किसी व्यक्ति की मृत्यु के समय, गांधीजी कि मृत्यु के समय विश्व की जितनी जनता विचलित और व्यथित हो उठी थी उसका दस प्रतिशत मानव हृदय भी विचलित और व्यथित् हो उठा हो ? अनेक प्रजाप्रिय शासक, राष्ट्रनेता और लोकप्रिय संतों का स्वर्गवास हुआ तब उनके लिए शोक किसी वर्गविशेष में ही हुआ करता था। कभी कभी तो शोक औपचारिक ही होता था। परंत गांधीजी की मृत्युकथा तो अद्वितीय ही है। दुनिया के प्रत्येक भाग में बसती जनता के सच्चे प्रतिनिधियों ने गांधीजी की मृत्यु पर आँसु बहाये हैं और आज भी गांधीजी की जीवनगाथा का स्मरण होते ही या उसके कुछ शब्द कान में पड़ते ही करोडों मनुष्य अपने आंसुओं को रोक नहीं सकते। इसीलिए हम कह सकते हैं कि गांधीजी की मृत्यु भी उनके जीवन के समान ही महान है। (धन्य धन्य हो गांधी बापू ! धन्य तेरी कुर्बानी - दुःखायल)

दुनिया के धर्मग्रंथों में गीता एक अद्भुत एवं अपूर्व ग्रंथ है। उसकी रचना करनेवाला भी ऐसा ही अद्भुत एवं आर्षदृष्टा होना चाहिए। जिसके मुख से गीता का उपदेश प्रस्फुटित हुआ है (या उनके द्वारा प्रस्तुत करवाया गया है) वह कल्पनामूर्ति या ऐतिहासिक कृष्ण भी निःशंक रूप से अद्भुत व्यक्ति है। गांधीजी को सच्चे रूप में सही ढंग से जाननेवाला कोई भी व्यक्ति इतना तो अवश्य समझ सकता है कि **गीता को आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक अर्थ में गांधीजी ने जितना आत्मसात् किया था उतना गीता को आत्मसात् करनेवाले मनुष्य को खोज निकालने का काम अत्यंत कठिन है**। गीता में कर्मयोग का ही प्रतिपादन है। इस तथ्य का समर्थन लोकमान्य तिलक से अधिक स्पष्ट एवं सुंदर रूप में अन्य किसीने किया हो तो मुझे पता नहीं है; परंतु **उस अनासक्त कर्मयोग का पचास से भी अधिक वर्षों तक निरंतर तथा अखंड परिपालन गांधीजी ने कर दिखाया है। उन्होंने गीता के कर्मयोग का समर्थन जितने अंशों में जीवन जी कर किया है उतने अंशों में ग्रंथ लिखकर नहीं किया**। गीता के अनासक्त कर्मयोग में दो पहलूओं का समावेश होता है। लोक जीवन की सामान्य सतह पर रह कर उसे उन्नत

करनेवाला लोकसंग्रहकारी व्यावहारिक पहलू और तीनों काल में एक समान रूप से टिके रह सके ऐसे-चिरकालीन; शाश्वत मूल्यवाले सत्य अहिंसा तथा ईश्वरनिष्ठा जैसे तत्त्वों के साथ ही जीवन जीने का पारमार्थिक पहलू। गांधीजी के जीवन का आरंभ हुआ उस पारमार्थिक सत्य के आधार पर और उत्तरोत्तर, अधिक से अधिक विकसित, प्रसरित और नवपल्लवित होता गया उस व्यावहारिक पहलू या व्यावहारिक सत्य का अवलंब ले कर। गांधीजी के किसी भी जीवन कृत्य को लेकर हम सोचें तो अत्यंत स्पष्ट रूप से इस बात की प्रतीति होती है कि उनके प्रत्येक कार्य में पारमार्थिक तथा व्यावहारिक सत्य-दोनों का सहज तथा अविभाज्य समन्वय था। वे किसी भी क्षेत्र में, किसी भी विषय को ले कर काम कर रहे हों तब उसमें पारमार्थिक सत्य तो निहित अवश्य होता और उस पारमार्थिक सत्य को वे उस प्रकार व्यावहारिक स्तर पर रखते कि सत्य केवल श्रद्धा का या पूजा का विषय न रह कर बुद्धि का तथा आचरण का विषय भी बन जाता था। गांधीजी जैसे जैसे पारमार्थिक सत्य के आधार व्यावहारिक क्षेत्रों में अपनी प्रवृत्तियों को विकसित करते गये जैसे जैसे उनके समक्ष कठिन से कठिनतर समस्याएँ उपस्थित होतीं गईं, धर्म, कौम, समाज, अर्थशास्त्र, राजकारण जैसे अनेक विषयों की अत्यंत पुरानी जटिल समस्याओं को हल करने का बोझ उन पर आता गया, वैसे वैसे उन्हें अपने जीवन की गहराई में से पारमार्थिक सत्य के मंगलमय एवं कल्याणकारी पहलू के द्वारा अधिक से अधिक बल मिलता गया। यह बल ही गांधीजी का अमोघ-अजेय बल था। गांधीजी चाहे कितने ही क्षीण हो गये हों, तपस्या के कारण कृश हो गये हों फिर भी उनके जीवन में से जो आश्चर्यकारक तेज एवं बल प्रस्फुटित होता था उसे समझना किसी के लिए आसान न था। वह बल और तेज के पारमार्थिक सत्य के साथ उनके तादात्म्य का ही परिणाम था। उनकी वाणी या उनकी लेखिनी में, उनकी प्रवृत्ति में या उनकी शारीरिक स्फूर्ति में वही पारमार्थिक सत्य प्रकाशित होता था।

गांधीजी के अनुयायी माने जाने वाले लोग भी गांधीजी के जैसी ही दुन्यवी तथा व्यावहारिक प्रवृत्ति करते थे, लेकिन उन्हें हमेशा ऐसा ही प्रतीत होता था कि उनके जीवन में गांधीजी के जैसा तेज नहीं है। ऐसा क्यों ? इसका उत्तर हमें मिलता है गांधीजी की पारमार्थिक सत्य के साथ की उनके जीवन की गहनतम-पूर्ण एकरूपता में से। ऐसी एकरूपता ने लोकजीवन के अनेक सांसारिक पहलूओं को

संवारा है, उनको उन्नत बनाया है। इस तथ्य को हमने जितना जाना और समझा है, भावि पीढ़ी उसे और अधिक जान और समझ सकेगी। प्रकृति का तत्त्व ही ऐसा है कि उसका लोलक केवल एक ही दिशा में स्थिर नहीं रहता। जब वह किसी एक छोर की ओर झुकता है, तब उसके ठीक सामने की दिशा में उसके आंदोलन शुरु होते हैं। गांधीजी ने दुनिया को उलझन में डालनेवाले जटिल प्रश्नों का सरल मार्ग से हल ढूंढने का उपाय सब के समक्ष प्रस्तुत किया। आज तक जो दुनिया 'विष का औषध विष ही है' ऐसे सूत्र में मानती थी, कुटिलता का प्रत्युत्तर कुटिलता से ही दिया जाना चाहि ऐसा सोचती थी और उसी के अनुसार जीवन बीताती थी और फिर भी कोई योग्य-शाश्वत हल ढूँढ नहीं सकती थी, उस दुनिया को गांधीजी ने एक नया मार्ग दिखाया कि विष का सच्चा और शाश्वत औषध अमृत ही है तथा कुटिलता के निवारण का सरल एवं सही इलाज सरल जीवन ही है। गांधीजी का यह कथन नया तो नहीं था, परंतु उसका सर्वांगीण व्यापक आचरण एक नई बात थी। उनका वह नवजीवन पारमार्थिक सत्य को चाहे कितना ही स्पर्श करनेवाला था, उसके द्वारा सभी जटिल समस्याओं का चाहे कितना ही सरल हल निकालना संभव था, फिर भी उसे समझ सके, उसे आत्मसात् कर सके ऐसी मानव समाज की भूमिका तैयार नहीं थी। गांधीजी ने समाज के कोने कोने तक जाकर लोगों की सद्बुद्धि को जागृत करने के हेतु भगीरथ प्रयत्न किया। परिणामस्वरूप लाखों मनुष्य उनके कथन को समझने के लिए प्रयत्नशील हुए और यथा संभव उनकी जीवनशैली का अनुसरण करने के लिए भी प्रयत्नशील हुए, परंतु समाज का एक बड़ा हिस्सा जैसा था वैसा ही रहा और गांधीजी के इस नवजीवनमय संदेश की तीव्रता तथा विशेष प्रचार के साथ साथ उसमें भी वृद्धि होती गई जो गांधीजी के संदेश का स्वीकार न कर सके, यही नहीं, इस वर्ग को वह संदेश नितांत घातक एवं अव्यवहार्थ लगा। जो लोग गांधीजी के संदेश को - नवजीवनसंदेश को श्रद्धापूर्वक सुनते थे तथा यथाशक्ति तदनुसार जीवन जीना चाहते थे उनके मन में भी कई बार गांधीजी के पारमार्थिक सिद्धान्तों के विषय में शंका उत्पन्न होती और उन्हें समाधान न मिलता। ऐसा भी एक वर्ग विकसित होता गया जो गांधीजी को सुनने का मौका कभी खोने को तैयार न था फिर भी मन में दृढ़ता पूर्वक यही बात बिठाते रहे कि वे तो संत रहे, व्यवहार में उनकी बात चल नहीं सकती। लेकिन इससे भी अधिक विशाल वर्ग एक ऐसा वर्ग भी निर्मित होता गया जिसे गांधीजी के पारमार्थिक सत्य के सिद्धांत तत्त्वतः तो स्वीकार्य थे, परंतु जीवन के लिए उन्हें पूर्णतः अव्यवहार्य

मान कर उनकी अवगणना ही करता था। यह वर्ग ही गांधीजी के नवजीवन संदेश के लिए भयानक था। गांधीजी स्वयं को हिंदु कहते और वे हिंदु धर्म का पालन करते हैं ऐसा स्पष्ट रूप से कहते भी थे परंतु उनके हिंदु धर्म का उद्भव एवं विकास ऋतंभरा प्रज्ञा में से हुआ था जिसके परिणामस्वरूप वह इतना विस्तृत था, इतना विशाल बना था, कि जहाँ एक ओर दुनिया के समग्र सच्चे धर्मानुयायियों को वह यह मानने को प्रेरित करता था कि गांधीजी हमारे ही धर्म के मर्म की सर्वत्र वास्तविक रूप में व्याख्या कर के प्रस्तुत करते हैं तो दूसरी ओर से संकीर्ण मनवाले रूढ़िचुस्त, स्वार्थी धार्मिक लोगों के मन में वह तनिक भी स्थान प्राप्त न कर पाता था।

वास्तव में गांधीजी का यह उदारवादी धर्म उन लोगों को अनेक प्रकार से झुंझला देता था। जगत किस दिशा में घसीटा जा रहा है और मृत्यु के महागर्त में डूबता जा रहा है उस वास्तविक स्थिति से वाकिफ होने के कारण तथा इस स्थिति से बचने के लिए पूर्ण रूप से निर्दोष एवं सब के लिए अनुसरणीय, सरल उपाय लोगों के समक्ष प्रस्तुत करने के कारण दिन प्रतिदिन गांधीजी का अनुसरण करनेवालों की संख्या में वृद्धि होती जाती थी। इतना तो निश्चित है कि उनकी प्रभावपूर्ण वाणी को सुनने या पढ़ने के लिए उत्सुक रहनेवाले, आतुर रहनेवाले लोगों की संख्या बढ़ती ही जा रही थी। पुरानी पीढ़ी के और वृद्ध अवस्था के लोगों का समावेश भी इस वर्ग में जुड़ता ही जा रहा था। इस कारण से रूढ़िचुस्त तथा विरोधी मानसवाले, जिनके पास अपने धर्म या कौम के सीमित दायरों में रहनेवाले लोगों के लिए सक्रिय रूप से कुछ करने के लिए कुछ था नहीं, वे मन ही मन झुंझलाते और खुल्लंखुल्ला तो नहीं, परंतु मन ही मन उनके प्रति क्रोधित होते और दूसरे लोगों में भी गांधीजी के प्रति क्रोध जगाने का प्रयत्न करते। ऐसे लोगों में कुछ बुद्धिमान फिर भी केवल सत्तालोलुप और असहिष्णु लोगों का एक वर्ग पहले से ही था। गांधीजी की विकसित हो रही विश्वप्रिय प्रवृत्ति तथा देशोद्धारक प्रवृत्ति के तेज के कारण इस वर्ग के लोगों को अन्य लोग अधिक महत्त्व देते नहीं थे। परंतु जैसे जैसे गांधीजी का हिंदुत्त्व-परिशोधन कार्यक्रम उग्र एवं विशाल बनता गया, वैसे वैसे इस असहिष्णु लोगों के समुदाय को भोले, अज्ञानी तथा स्वार्थी लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करने का अधिक मौका मिलता गया। मुस्लिमों की मांगें बढ़ती गईं। गांधीजी दीर्घ दृष्टि से अगर मुसलमानों के पक्ष में उन्हें कोई अच्छी सुविधा देने की दीर्घदृष्टिपूर्ण

बात करते तो असहिष्णु लोगों का वह समुदाय यह कह कर हिंदु लोगों को उकसाता कि देखिये, गांधीजी स्वयं को हिंदु कहलवाते हैं, हिंदु धर्म के अनुयायी होने की बात करते हैं, अक्षरशः गीता का आचरण करने की बात कते हैं, फिर भी आततायी मुस्लिमों के सामने भीरु हो कर झुक जाते हैं। सामान्य लोग जो लेनदेन में एक एक पैसे का हिसाब रखते हों और आततायी पर प्रहार कर के ही उसे सही मार्ग पर लाने के संस्कार जिनके मन पर दृढ़ हो गये हों, वे गांधीजी की दीर्घदृष्टिपूर्ण उदारता का उलटा अर्थ निकाले वह स्वाभाविक ही था। **गांधीजी की दीर्घदृष्टि ऐसी थी कि पहले मेरे अपने घर का परिशोधन हो तो फिर दूसरे लोगों को परिशोधन करने के लिए कहना सरल होगा और दुनिया में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ सकती है।** जब तक मुस्लिम लीग और हिंदु महासभा के बीच स्पर्धा चलती रही तब तक उस असहिष्णु समुदाय ने भारत की भोली प्रजा में एक ही प्रकार का जहर फैलाया कि गांधीजी के कारण हिंदु जाति एवं हिंदु धर्म असुरक्षित होता जा रहा है। कमनसीबी से देश का विभाजन हुआ और उसके फलस्वरूप हिंसा का, मारकाट का दावानल सुलग उठा। मुस्लिम लीग ने तो गांधीजी को इस्लाम के और मुसलमानों के शत्रु घोषित कर ही दिया था; कट्टर हिंदुमहासभावादियों ने भी उन्हें हिंदु धर्म के शत्रु कह दिया। जिन लोगों के मन में गांधीजी के विषय में ऐसी गलत धारण दृढ़ हो गई थी उन्होंने जब हिंदु तथा सिक्खों की कत्लेआम देखी, स्त्रियों के अपहरण देखे, तब तो उन्हें दृढ़ प्रतीति हो गई कि हिंदु धर्म या हिंदु जाति की रक्षा गांधीजी के हाथों हो यह बात आकाश कुसुमवत् ही है। यह कार्य तो हिंदु महासभा ही कर सकती है और वे ही दुगुनी ताकत से 'जैसे के साथ तैसा' हो कर शत्रु की, आततायियों की सान ठिकाने ला सकते हैं। कट्टर हिंदु महासभावादियों का यह मुद्दा इतना सरल था कि उसे समझने-समझाने के लिए अधिक चातुर्य की आवश्यकता थी ही नहीं, क्यों कि जनमानस सामान्यतः प्रथम से ही पाशविक वृत्ति से गढ़ा हुआ होता है, जब कि इतने लंबे समय से संकीर्ण मान्यताओं में बद्ध जनमानस को गांधीजी समझौता और विवेकपूर्ण मार्ग से सुधारना चाहते थे। डूबता हुआ या आपत्तियों से घिरा हुआ मनुष्य मजबूत न हो लेकिन तत्काल हाथ में आया हो ऐसे तिनके का सहारा ले रहा हो तब धैर्यपूर्वक, संकट सहन करके भी अधिक स्थिर उपाय का आलंबन लेने के लिए अगर कहा जाय तो उसमें सफलता मिलने की संभावना बहुत कम रहती है। अतः देश का विभाजन होने पर जो कौमी दावानल प्रज्वलित हो उठा, उससे बचने का केवल एक ही मार्ग हिंदुओं और

सिक्खों को दिखाई दिया । उस मार्ग को अपनाने से भविष्य में बहुत अहित होगा यह गांधीजी देख और समझ सके थे । इस कारण से उन्होंने हिंदुओं को तथा सिक्खों को बदला लेने की भावना को आज़माने से पहले ही रोकने का प्रयास किया । इस कारण से जैसे जैसे मुसलमान लोग गांधीजी की प्रशंसा करने लगे वैसे वैसे हिंदु और सिक्ख अधिक झुंझलाये और खुले आम प्रचार करने लगे कि देखिये ! मुसलमान ही गांधीजी को अपने हितैषी मानते हैं । जो मुसलमानों का हितैषी हो वह तो हिंदुद्रोही ही होगा ।

जनमानस में उत्तेजना फैलानेवाले अनेक प्रकार के नित नए हादसों में सर्वत्र समानरूप से सांत्वना देने का तथा लोगों को समझाने का कार्य गांधीजी के लिए अत्यंत कठिन था । फिर भी उन्होंने अनशन जैसे प्रभावोत्पादक उपाय एवं रेडिओ पर सर्वगम्य प्रवचन दे कर अपना काम जारी रखा और हिंदु तथा सिक्ख लोगों में बदला लेने की वृत्ति जो भयंकर रूप धारण कर रही थी उसे कुछ अंशों में काबू में ले कर शांत किया । परंतु ऐसे समय में वह असहिष्णु, सत्तालोलुप वर्ग प्रजा को गुमराह कर रहा था और खुले आम कहता कि अहिंसा की आड़ में आख़िर में तो गाँधीजी हिंदु और सिक्खों की ही हत्या करवा रहे हैं । लोकमानस जब पर्याप्त रूप से गाँधीजी के विरुद्ध हो गया, तब जो रूढ़िचुस्त और नामधारी धार्मिक लोग पहले से ही गाँधीजी के विरुद्ध थे और अब तक अपनी अपनी सीमा में रह कर गाँधीजी को गालियाँ देते थे, वे सब उस बुद्धिपटु सत्तालोलुप वर्ग के समर्थक हो गये । वह असहिष्णु लोगों का समुदाय हिंदु जागीरदारों एवं राजाओं को उनकी सत्ता चली जायेगी ऐसा भय दिखाकर तथा स्वयं के द्वारा उनकी सत्ता कायम रहेगी ऐसी आशा दे कर हिंदु धर्म तथा हिंदु जाति के उद्धार के बहाने सब को अपने पक्ष में करने लगा, हिंदुत्वाभिमानी आचार्यों एवं महंतों को उनके परंपरागत धर्म की रक्षा का विश्वास दिलाकर अपने समुदाय में सम्मिलित करने लगा, चुस्त पूंजीपतियों को भावि भय में से मुक्ति दिलाने की आा के द्वारा अपने पक्ष में करने में सफल हुआ । परिणामस्वरूप गांधीजी का विरोध करनेवाले, कट्टरपंथी लोगों मे अनेक वर्गों का समावेश होने लगा और यह वर्ग हिंदुत्ववादी शासन के स्वप्न देखने लगा ।

इस परिस्थिति ने ही कांग्रेस के विरुद्ध षड्यंत्र की रचना की और कांग्रेस को तथा देश को वर्तमान स्थिति तक लानेवाली उस महान आत्मा

का, उसके जीवन का ही अंत कर देने के संकल्प को पुष्ट किया जिसका गोडसे तो एक प्रतीक मात्र है ।

गोडसे के हाथों गाधीजी की हत्या हुई ऐसा कहने के बजाय यह कहना सत्य के अधिक निकट है कि गाँधीजी की उत्तरोत्तर विकसित तथा अधिक शुद्ध होती जा रही अहिंसा का स्वीकार करने में असमर्थ मानस ही गाँधीजी की हत्या करवाने में कारणरूप बना । परंतु गाँधीजी अगर पूर्णतः सच्चे अहिंसक थे और उनकी प्रज्ञा अगर केवल सत्य को ही धारण करती थी, सत्य को अगर उनकी प्रज्ञा ने आत्मसात् किया था, तो उनकी हिंसा – उनकी हत्या – संभव ही नहीं है, बल्कि उनके द्वारा आचरण में रखी गई अहिंसा एवं उनकी सत्यनिष्ठ प्रज्ञा, ये दोनों जो उनकी छोटी–सी स्थूल काया तक सीमित थी वह अनेक प्रकार से, अनेकशः विस्तृत हुई है । जो लोग गांधीजी की अहिंसा और ऋतंभरा सत्यनिष्ठ प्रज्ञा को पूर्णतः नहीं समझ सके थे वे अब अधिक जिज्ञासा पूर्वक, अधिक लगन के साथ उसे समझने का प्रयास कर रहे हैं । इसी कारण से ही तो अनेक लोग जो दूसरों के प्रभाव में आ कर गलत मार्ग पर जा रहे थे वे अपने आप सही मार्ग पर धडल्ले से वापस आने लगे हैं और गोडसे के प्रेरक मानस की हृदयपूर्वक निंदा कर रहे हैं । पुनर्जन्म व्यक्तिगत हो या सामाजिक दोनों रूपों में उसका अर्थ एक तो है ही कि कोई भी संकल्प कभी व्यर्थ तो जाता ही नहीं । गाँधीजी का वज्रसंकल्प तो व्यर्थ जा ही नहीं सकता । सोक्रेटिस तथा क्राइस्ट के संकल्प उनके अवसान के बाद ही अधिक गतिमान एवं अधिक दृढ़मूल हुए हैं वह सर्वविदित है । गांधीजी की मृत्यु किसी तुच्छ जंतु की मृत्यु नहीं है । उनकी मृत्यु ने समस्त मानवजाति को शोकसंतप्त बनाया है । इसका अर्थ यह है कि उनकी मृत्यु ने मनुष्य जाति को अपने अंतर्मन में झाँकने के लिए अंतर्मुख बनने के लिए प्रेरित किया है । और वस्तुतः गाँधीजी आख़िर चाहते भी क्या थे ? वे हमेशा यही कहा करते थे कि आप स्वनिरीक्षण करें और अपने आप को सुधारें । अपने जीवन काल में उन्होंने अपना संदेश जितना प्रसारित किया, उससे कहीं अधिक विस्तृत रूप में उन्होंने अपनी मृत्यु के द्वारा अपना संदेश प्रसारित किया है और भविष्य में वह और भी विस्तृत रूप से प्रसरित होगा उसमें कोई संदेह नहीं । वैसे तो इस देश के मंच पर आने के बाद गाँधीजी ने एक विशाल सेवकवर्ग तैयार किया है । किसी भी प्रांत, किसी भी जिले या किसी भी तालुके की ओर देखें तो हर जगह गाँधीजी के मार्गदर्शन में काम करनेवाले कुछ

न कुछ लोग अवश्य मिल जायेंगे । इन कार्यकरों में अनेक विभूतिवत् तेजस्वी कार्यकर भी हैं । गाँधीजी की मृत्यु से अब ऐसे कार्यकरों की संख्या में वृद्धि तो होगी ही, साथ ही ये सब अधिक शुद्ध हो कर कार्यबल प्राप्त करेंगे, क्यों कि अब उन्हें अपने कंधों पर आये हुए उत्तरदायित्व का पूर्ण ज्ञान हो रहा है । जो मुस्लिम बंधु अपने घर को संवारने के बाद दूर बैठे बैठे या पाकिस्तान जा कर समझानेवाले थे उन्हें भी यह समझ में आ रहा है कि गाँधीजी जो कहते थे वही सच है और मुस्लिम लीग जो धर्म के नाम पर धर्मांघता को उकसा–फैला रहीथी, उसमें कोई तथ्य नहीं है। इस प्रकार, अगर हम सोचें तो गाँधीजी का जीवन जितना महान और कल्याणकारी था, उतनी ही महान और कल्याणकारी उनकी मृत्यु भी है इस बात में कोई संदेह नहीं है ।

गाँधीजी गुरुत्वाकर्षण के नियम के समान थे । अपने संपूर्ण जीवन में उन्होंने परस्पर विरोधी ऐसे उन विविध परिबलों को एक ही उद्देश की सिद्धि हेतु जोड़ कर, एक ही श्रृंखला में बाँध कर रखने में असाधारण सफलता प्राप्त की है । राज्यकर्ता, मठाधिपति, पूंजीपति एवं, उच्चत्त्वाभिमानी लोगों के वर्ग पर साम्यवाद की जो आक्रमक – संहारक लहर आ रही थी उसका निवारण अहिंसा की सहायता से करने हेतु तथा उस लहर के केवल प्राणदायक तत्त्व को प्रतिष्ठित करने हेतु गाँधीजी ने जीवन के अंतिम क्षण तक अपनी कार्य साधना द्वारा प्रयत्न किया । वे सब को निर्भय बनाने का ही प्रयास करते । भय के जिन कारणों से जो भी वर्ग डरा हुआ था, त्रस्त था, उस वर्ग को उस भय के कारणों को ठोकर मार कर निर्भय बनने के लिए समझाते । राज्यकर्ताओं को ट्रस्टी बन कर राज्य करने को कहते, तो पूंजीपति तथा उद्योगपतियों को भी ट्रस्टी बन कर लोकहितार्थ उद्योग–व्यापार का विकास करने की सलाह देते । किसी धर्मपंथ के दीपक में तेज न था क्यों कि उनमें तेल एवं बाती रहे ही नहीं थे । गाँधीजी ने अपने आचरण के द्वारा हर एक धर्मपंथ के दीपक में तेल और बाती डालने का कार्य किया और प्रत्येक समझदार धार्मिक व्यक्ति यह मानने लगा कि हमारा पंथ भी जीवंत है और उसमें भी कुछ रहस्य है । उच्च जाति के लोग अपनी उच्च जाति के अभिमान के कारण जिन्हें कभी जोड़ा न जा सके ऐसे खंडों में विभक्त हो गये थे और दलितवर्ग तो मानवता की कक्षा से भी बाहर हो गया था । गांधीजी ने ऐसे वर्ण–धर्म का आचरण कर के दिखाया जिसके परिणामस्वरूप अपनी उच्च जाति का अभिमान करनेवाले लोगों का उच्चत्वाभिमान स्वयमेव गलने

लगा और दूसरी ओर दलितों के रक्त में जो घुलमिल गई थी वह दीनवृत्ति निर्मूल होने लगी। एक दिशा से ऊर्ध्वारोहण और दूसरी दिशा से निम्नावरोहण – इन दोनों प्रक्रियाओं ने देश में वर्णधर्म को नूतन स्वरूप प्रदान किया। हज़ारों वर्षों से अपनी जड़ें जमाकर बैठा हुआ जातिगत उच्च–नीचभाव का विषवृक्ष बुद्ध, महावीर, कबीर, नानक या दयानन्द आदि के द्वारा भी निर्मूल न हो सका था उसकी जड़ों को गांधीजी ने उखाड दिया और उसके परिणामस्वरूप जिसका अस्तित्व हज़ारों वर्ष पुराना है वह अस्पृश्यता अब अंतिम साँसें गिन रही है। हिंदु धर्म और हिंदु जितने पुरातन उतने ही वे भव्य माने जाते हैं, परंतु उसका अस्पृश्यता का कलंक भी उतना ही पुराना और अभव्य है। जब तक यह कलंक है तब तक हिंदु धर्म को धर्म कहना या हिंदु संस्कृति को संस्कृति कहना केवल भाषाविलास है ऐसा मानते हुए गाँधीजी ने हिंदु धर्म एवं हिंदु संस्कृति को निष्कलंक बनाने हेतु भगीरथ प्रयत्न किया और वह भी अपनी अहिंसावृत्ति के साथ। उनका यह कार्य ऐसा है कि दुनिया के प्रत्येक देश में वह हिंदु धर्म तथा संस्कृति को भव्यता प्रदान कर सकता है और हिंदु कहलानेवाले सब लोगों के लिए जो लज्जास्पद तत्त्व था उसे मिटा कर उन्हें गौरव सहित जीने की हिम्मत प्रदान कर सकता है। आज जो लोग अपनी कट्टरता के कारण अस्पृश्यता निवारण के कार्य में बाधा बन रहे हैं वे अगर आनेवाली पीढी तथा दुनिया के टीकाकारों को हिंदु धर्म पर लगे अस्पृश्यता के लांछन के विषय में कुछ भी सच्चा उत्तर देने के लिए तैयार होंगे तो उन्हें गाँधीजी की शरण लेनी ही पड़ेगी। उन्हें यह कहना पड़ेगा कि नहीं, नहीं, हमारा हिंदु धर्म एवं हमारी हिंदु संस्कृति तो ऐसे हैं कि जिसने गाँधीजी जैसे महान पुरुष को जन्म दिया और गाँधीजी के द्वारा आत्मशोधन किया। गोडसे के हाथों को रक्तरंजित करानेवाले – गोडसे को गाँधीजी की हत्या के लिए प्रेरित करनेवाले वक्रमति वर्ग को भी नई पीढ़ी की दृष्टि में प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा होगी तो गाँधीजी की अहिंसा का पूर्ण स्वीकार करने के बाद ही प्राप्त कर सकेंगे। गाँधीजी ने कभी भी किसीका अहित करने की कल्पना तक नहीं की है। ऐसी कल्याणगुणधाम विभूति अपनी स्थूल मृत्यु के द्वारा भी कल्याणमयी भावनाओं को प्रसरित करने का ही काम करेगी। ईश्वर एक या दूसरे मार्ग से सब को सद्बुद्धि के पाठ ही पढ़ाते हैं। वक्रमति तथा दुर्बुद्धि लोगों को एक रीति से, तो दूसरे लोगों को दूसरी रीति से सुधरने का अवसर ही प्रदान करते हैं। अतः हमें यह दृढ़तापूर्वक मानना चाहिए कि गाँधीजी की मृत्यु की घटना के पीछे

भी कोई गूढ़ ईश्वरीय संकेत है जो कल्याणमय है और उसके चिह्न अभी से दिखने लगे हैं ।

गाँधीजी ने अपने आचरण द्वारा गीता का अर्थ बताया भी है और विकसित भी किया है । गाँधीजी की दृष्टि का अनुसरण करते हुए अगर गीता को समझने का प्रयत्न करें तो उसके सामान्य शब्दार्थ के उस पार एक लोकोत्तर भव्य अर्थ की झांकी प्राप्त होती है । इस बात का विस्तार यहाँ करने का स्थान नहीं है, परंतु गाँधीजी को श्रद्धांजली अर्पित करते समय उनकी दृष्टि का अल्प परिचय करने-कराने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत करना अनुचित न होगा ।

युद्धप्रिय लोगों को उत्तेजित करने और उनके शौर्य को जगाने हेतु गीता में एक चमत्कारी उक्ति है जिसका प्रयोग उपयोग प्राचीन काल से आजतक किया गया है । इस उक्ति में कहा गया है 'अरे वीर ! तू कमर कस ले । तैयार हो जा और युद्ध भूमि के प्रति प्रस्थान कर ! युद्ध भूमि में अपनी पीठ मत दिखा । शत्रु से भयभीत मत हो ! यदि तू शत्रु के हाथों मृत्यु प्राप्त करेगा तो भी कुछ हानि नहीं होगी मृत्यु के बाद तू पृथ्वी के राज्य से कहीं अधिक विशाल स्वर्ग का राज्य प्राप्त करेगा और यदि शत्रु पर विजय प्राप्त करेगा तो यहाँ का राज्य तो है ही । जीवित रह कर या मृत्यु के बाद तू राज्य तो प्राप्त करेगा ही । शर्त यही है कि तू युद्ध भूमि से पीछेहट न करे ।' इस प्रकार की उत्तेजना ने आज पर्यंत अनेक हिंसक युद्धों को बढ़ावा दिया है क्यों कि इस प्रकार की उत्तेजना किसी एक पक्ष को ही उत्तेजित करती है ऐसा नहीं है । दोनों पक्ष ऐसी उत्तेजना से बल प्राप्त कर प्राणांत युद्ध खेलते हैं जिसके कारण नाश की प्रक्रिया कभी रुकती नहीं । गाँधीजी ने इस उत्तेजना को मिटाया नहीं । उसके बल को कायम रखा । यही नहीं, उसके बल में वृद्धि की, परंतु उसे अहिंसा का नया जामा पहनाया, उसे नया स्वरूप प्रदान क्रिया और इस प्रकार उस उत्तेजना को अमर रसायण में परिवर्तित कर दिया । हज़ारों वर्षों से चली आ रही पाशवी हिंसक उत्तेजना को गाँधीजी ने मानवीय या दिव्य उत्तेजनों में परिवर्तित कर दी । यह किस प्रकार ? गाँधीजी ने उपरोक्त उत्तेजना को नया अर्थ देते हुए कहा - ''शाश्वत सिद्धांत तो ऐसा है कि कोई कल्याणकारी कार्य करनेवाला व्यक्ति कभी दुर्गति प्राप्त नहीं करता । अतः हे वीर ! तू कल्याण की राह पर निर्भय हो कर विचरण कर । आगे ही बढ़ता जा। पीछेहट मत कर । किसीके अकल्याण का या किसीका बुरा करने का विचार भी मत कर । इस प्रकार कल्याण के मार्ग विचरण करते हुए अगर मृत्यु आ गई, गर

कभी अपना बलिदान देना भी पड़ा तो क्या ? इस प्रकार आत्मबलिदान देने के कारण तुझे तेरी वर्तमान स्थिति से अधिक उच्च भूमिका ही प्राप्त होने वाली है, क्यों कि कल्याण करनेवाला सद्‌गति ही प्राप्त करता है, दुर्गति में कभी नहीं जाता। और कल्याण के हेतु विश्वसेवा करते हुए अगर इस जन्म में ही सफलता प्राप्त हो गई तो तू यहीं पर ही सेवाराज्य के सुंदर परिणाम भोगेगा''।

आज तक 'न हि कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति' इस श्लोकार्ध के साथ संगति बिठाये बिना ही केवल परापूर्व कें युद्ध के संस्कारों से बद्ध, विद्वान माने जाने वाले लोगों का मानस भी 'हतो वा प्राप्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्' इस पंक्ति का अर्थ पुरानी परंपरानुसार ही करता और मानवजाति उत्तेजनारूप मद्यपान कर के कौरव पांडवों की तरह भाई-भाई होते हुए भी परस्पर युद्ध करते, मारते मारते लड़ मरती।

इसके स्थान पर गाँधीजी ने भाई भाई को परस्पर लड़कर खतम होने के स्थाने नपर अपनी शक्ति को सर्वजनहिताय - समाज के हित में प्रयुक्त करने हेतु, समझाने के लिए गीता के उस वाक्य को अपने जीवन में चरितार्थ करते हुए नूतन अर्थ प्रदान किया, ऐसा अर्थ कि जो आज तक किसी भी आचार्य ने नहीं दिया था। गाँधीजी की ऐसी तो अनेक सिद्धियाँ हैं। ऐसी सिद्धि प्राप्त करनेवाला मनुष्य सामान्य नहीं है, वह तो महामानव है, क्यों कि उसका जीवन महान है और इसी कारण से उसकी मृत्यु भी महान है। वह तो मृत्युंजय है क्यों कि उसके समक्ष तो मृत्यु की ही मृत्यु हो जाती है और वह समग्र मानवजाति की चेतना के गहनतम स्तर में प्रविष्ट हो कर चेतना के स्तर को भी ऊर्ध्वगामी बनाता है।

* * * * *

अहिंसा, अनेकांत और आत्मविज्ञान की प्रसारक संस्था

श्री वर्धमान भारती - जिनभारती : प्रवृत्तियाँ और प्रकाशनादि

बेंगलोर में १९७१ में संस्थापित 'वर्धमान भारती' संस्था आध्यात्मिकता, ध्यान, संगीत और ज्ञान को समर्पित संस्था है। प्रधानतः वह जैनदर्शन का प्रसार करने का अभिगम रहती है, परंतु सर्वसामान्य रुप से हमारे समाज में उच्च जीवनमूल्य, सदाचार और चारित्र्यगुणों का उत्कर्ष हो और सुसंवादी जीवनशैली की ओर लोग मुड़े यह उद्देश रहा हुआ है। इसके लिये उन्होंने संगीत के माध्यम का उपयोग किया है। ध्यान और संगीत के द्वारा जैन धर्मग्रंथों की वाचना को उन्होंने शुद्ध रुप से कैसेटों में आकारित कर ली है। आध्यात्मिक भक्तिसंगीत को उन्होंने घर-घर में गूंजित किया है। इस प्रवृत्ति के प्रणेता है प्रो. प्रताप टोलिया। हिन्दी साहित्य के अध्यापक और आचार्य के रुप में कार्य करने के बाद प्रो. टोलिया बेंगलोर में पद्मासन लगाकर बैठे हैं और व्यवस्थित रुप से इस प्रवृत्ति का बड़े पैमाने पर कार्य कर रहे हैं। उन की प्रेरणामूर्तिओं में पंडित सुखलालजी, गांधीजी, विनोबा जैसी विभूतियाँ रहीं हुईं हैं। ध्यानात्मक संगीत के द्वारा अर्थात् ध्यान का संगीत के साथ संयोजन करके उन्होंने धर्म के सनातन तत्त्वों को लोगों तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। श्री प्रतापभाई श्रीमद् राजचन्द्र से भी प्रभावित हुए। श्रीमद् राजचन्द्र के 'आत्मसिद्धि शास्त्र' * आदि पुस्तक भी उन्होंने सुंदर पठन के रुप में कैसेटों में प्रस्तुत किये। जैन धर्मदर्शन केन्द्र में होते हुए भी अन्य दर्शनों के प्रति भी आदरभाव होने के कारण प्रो. टोलिया ने गीता, रामायण, कठोपनिषद् और विशेष तो ईशोपनिषद् के अंश भी प्रस्तुत किये। १९७९ में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री मोरारजी देसाई ने उस रिकार्ड का विमोचन किया था। प्रो. टोलिया विविध ध्यान शिविरों का आयोजन भी करते हैं।

प्रो. टोलिया ने कतिपय पुस्तक भी प्रकाशित किये हैं। श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, हंपी के प्रथम दर्शन का आलेख प्रदान करनेवाली 'दक्षिणापथ की साधनायात्रा' हिन्दी में प्रकाशित हुई है। 'मेडिटेशन एन्ड जैनिझम', 'अनन्त की अनुगूँज' काव्य, 'जब मुर्दे भी जागते हैं!' (हिन्दी नाटक), इत्यादि प्रसिद्ध हैं। उनके पुस्तकों को सरकार के पुरस्कार भी मिले हैं। 'महासैनिक' यह उनका एक अभिनेय नाटक है। यह नाटक अहिंसा, गांधीजी और श्रीमद् राजचन्द्र के सिद्धांत प्रस्तुत करता है। काकासाहब कालेलकर के करकमलों से उनको इस नाटक के लिये पारितोषक भी प्राप्त हुआ था। इस नाटक का अंग्रेजी रुपांतरण भी प्रकट हुआ है। 'परमगुरु प्रवचन' में श्री सहजानंदघन की आत्मानुभूति प्रस्तुत की गई है।

प्रो. टोलिया का समग्र परिवार इस कार्य के पीछे लगा हुआ है और मिशनरी के

उत्साह से काम करता है। उनकी सुपुत्री ने **'Why Vegetarianism?'** यह पुस्तिका प्रकट की है। बहन वंदना टोलिया लिखित इस पुस्तिका में वैज्ञानिक पद्धति से शाकाहार का महत्त्व समझाया गया है। उनका लक्ष्य शाकाहार के महत्त्व के द्वारा अहिंसा का मूल्य समझाने का है। समाज में दिन–प्रतिदिन फैल रही हिंसावृत्ति को रोकने के लिये किन किन उपायों को प्रयोग में लाने चाहिये उसका विवरण भी इस पुस्तिका में मिलता है।

उनकी दूसरी सुपुत्री पारुल के विषय में प्रकाशित पुस्तक **'Profiles of Parul'** देखने योग्य है। प्रो. टोलिया की इस प्रतिभाशाली पुत्री पारुल का जन्म ३१ दिसम्बर १९६१ के दिन अमरेली में हुआ था। पारुल का शैशव, उसकी विविध बुद्धिशक्तियों का विकास, कला और धर्म की ओर की अभिमुखता, संगीत और पत्रकारिता के क्षेत्र में उसकी सिद्धियाँ, इत्यादि का उल्लेख इस पुस्तक में मिलता है। पारुल एक उच्च आत्मा के रुप में सर्वत्र सुगंध प्रसारित कर गई। २८ अगस्त १९८८ के दिन बेंगलोर में रास्ता पार करते हुए सृजित दुर्घटना में उसकी असमय करुण मृत्यु हुई। पुस्तक में उसके जीवन की तवारिख और अंजलि लेख दिये गये हैं। उनमें पंडित रविशंकर की और श्री कान्तिलाल परीख की **'Parul - A Serene Soul'** स्वर्गस्थ की कला और धर्म के क्षेत्रों की संप्राप्तियों का सुंदर आलेख प्रस्तुत करते हैं। निकटवर्ती समग्र सृष्टि को पारुल सात्त्विक स्नेह के आश्लेष में बांध लेती थी। न केवल मनुष्यों के प्रति, अपितु पशु–पक्षी सहित समग्र सृष्टि के प्रति उसका समभाव और स्नेह विस्तारित हुए थे। उसका चेतोविस्तार विरल कहा जायेगा। समग्र पुस्तक में से पारुल की आत्मा की जो तस्वीर उभरती है वह आदर उत्पन्न करानेवाली है। काल की गति ऐसी कि यह पुष्प पूर्ण रुप से खिलता जा रहा था, तब ही वह मुरझा गया! पुस्तक में दी गईं तस्वीरें एक व्यक्ति के २७ वर्ष के आयुष्य को और उसकी प्रगति को तादृश खड़ी करती हैं। पुस्तिका के पठन के पश्चात् पाठक की आंखें भी आंसुओं से भीग जाती हैं। प्रभु इस उदात्त आत्मा को चिर शांति प्रदान करो।

'वर्धमान भारती' गुजरात से दूर रहते हुए भी संस्कार प्रसार का ही कार्य कर रही है वह समाजोपयोगी और लोकोपकारक होकर अभिनन्दनीय है।

'त्रिवेणी'
लोकसत्ता – जनसत्ता,
अहमदाबाद, २२–०३–१९९२.

– डॉ. रमणलाल जोशी
(सम्पादक, 'उद्देश')

* इसीका सात भाषाओं में श्रीमद् राजचन्द्रजी कृत 'सप्तभाषी आत्मसिद्धि' रुप संपादित – प्रकाशित।

जिनभारती

वर्धमान भारती इन्टरनेशनल फाउण्डेशन के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन 'प्रियवादिनी स्व. कु. पारुल टोलिया द्वारा लिखित - संपादित - अनुवादित

* दक्षिणापथ की साधनायात्रा (हिन्दी) प्रथमावृत्ति पूर्ण
* महावीर दर्शन (हिन्दी) Mahavir Darshan (Eng + Hindi)
* विदेशों में जैन धर्म प्रभावना (हिन्दी) Jainism Abroad.
* Why Abattoirs - Abolition ? (Eng)
* Contribution of Jaina Art, Music and Literature to Indian Culturte.
* Musicians of India - I came across : Pt. Ravishankar, etc.
* Indian Music and Media (Eng)
* Profiles of Parul (Eng)
* पारुल - प्रसून (पुस्तिका तथा सीडी)

प्रा. प्रतापकुमार टोलिया द्वारा लिखित - संपादित - अनुवादित

* श्री आत्मसिद्धिशास्त्र एवं अपूर्व अवसर - द्विभाषी
* सप्तभाषी आत्मसिद्धि - श्रीमद् राजचन्द्रजी कृत - सात भाषाओं में अंग्रेजी - हिन्दी भूमिका सह.
* पंचभाषी पुष्पमाला
* दक्षिणापथ की साधनायात्रा (गुजराती) प्रथमावृत्ति पूर्ण
* विदेशों में जैन धर्म प्रभावना (गुज़राती)
* महासैनिक (म. गाँधीजी एवं श्रीमद् राजचन्द्रजी विषयक)
* The Great Warrior of Ahimsa.
* प्रज्ञाचक्षु का दृष्टिप्रदान - पं. सुखलालजी के संस्मरण (गुज)
* स्थितप्रज्ञ के साथ - आचार्य विनोबा भावे सह पदयात्रा संस्मरण
* गुरुदेव के संग - रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विषय में आचार्य गुरुदयाल मल्लिकजी आधारित
* प्रकटी भूमिदान की गंगा - विश्वमानव (रेडियो रूपक)
* जन मुर्दे भी जानते हैं ! - पुरस्कृत, अभिनीत हिन्दी नाटक
* संत शिष्य की जीवन सरिता
* कर्नाटक के साहित्य को जैन प्रदान
* Jain Contribution to Kannada Literature & Culture.
* Meditation and Jainism.
* Speeches and talks in USA and UK.
* Bhakti Movement in North.
* Saints of Gujarat.
* Jainism in present age.
* My Mystic Master Y.Y. Shri Sahajanandaghanji
* Holy Mother of Hampi.
* Award, Bribe Master, Public School Master & Other Stories
* Himalayan Betrayal & Other Stories
* Why Vegetarianism ?
* Voyage Within With Vimalajee

* अंतर्यात्रा - विमल सरिता सह
* दाण्डीपथने पगले-पगले - गाँधी शताब्दी दाण्डी यात्रा के अनुभव (गुजराती)
* अमरेली से अमेरिका तक - जीवन यात्रा
* पावापुरी की पावन धरती पर से (आर्ष-दर्शन)
* मेरे मानस लोक के महावीर
* कीर्ति-स्मृति- पारूल स्मृति (दिवंगत अनुज एवं आत्मजा की स्मृतियाँ)
* एक क्रान्तिकार की करूण कथा
* जिन भक्ति की अनुभूतियाँ
* दुखायलजी सह सर्वोदय संगीत यात्रा
* जैन योग पथ : योग संकेतिका : ध्यान संगीत
* अँवार्ड कहानी संग्रह - गुजराती / हिन्दी
* गीत निशान्त - काव्य गीत - हिन्दी
* वेदन-संवेदन (काव्य) - गुजराती
* पराशब्द (निबंध) - हिन्दी
* अंतर्दर्शी की अंगुलि पर - स्मरण कथा (गुजराती)

शताधिक में से कुछ महत्त्वपूर्ण सी.डी., कॅसेट्स

श्रीमद् राजचन्द्र साहित्य :

१. श्री आत्मशुद्धि शास्त्र - अपूर्व अवसर
२. परमगुरुपद (यम-नियम आदि)
३. राजपद(विनानयन,हे प्रभु!आदि) राजवाणी
४. भक्ति-कर्त्तव्य (अन्य भक्तिपद)
५. भक्ति झरणां (राजभक्ति+मातृ स्वाध्याय)
६. ध्यान संगीत (गुज.आ.जनकचंद्रसूरि सह)
७. ध्यान संगीत - आनंदलोके अंतर्यात्रा
८. धून-ध्यान (नवकार मंत्र,सहजात्मस्वरूप)
९. परमगुरुप्रवचन,कल्पसूत्र,दशलक्षण (भद्रमुनि)
१०.बाहुबली दर्शन(बाहुबलीजी-श्रीमद्जी-गाँधीजी)
११. महावीर-दर्शन (श्रीमद् राजचन्द्र-तत्त्व आधारित)
१२. प्रभात मंगल, जैन सुप्रभातम्
१३. सहजानंदसुधा (राजभक्तिपद-सहजानंदजी कृत)
१४. महाप्रभाविक नवस्मरण (१,२)
१५. रत्नाकर पच्चीसी (हिन्दी-गुजराती)

सर्वसुलभ जैन साहित्य :

१. श्री भक्तामर/कल्याण मंदिर स्तोत्र
२. श्री ऋषिमण्डल/परमानन्द स्तोत्र
३. मंगलाष्टक - वृहद्शांति, ग्रह शांति
४. आसरा-आराधना
५. जय जिनेश, जिनेश्वर आरती
६. जिन वंदना, जिनेन्द्र दर्शन
७. दादा गुरु दर्शन / दिवाकर दर्शन
८.महायोगी आनंदघन के पद/अनुभव वाणी
९. आत्म खोज, अभीप्सा
१०.आध्यात्मिक गीत गजल
११. अवसर बेर-बेर नहीं आवे
१२. अमेरिका की त्रिविध-यात्रा
१३. स्पन्दन-संवेदन
१४.गिरनारजी सिद्धक्षेत्र /राजुल-चंदनबाला
१५. सोनागिर - दश लक्षण, रत्नत्रय कथा

ऑडियो बुक, वी.सी.डी., डी.वी.डी., डॉक्यूमेंट्री-फिल्म्स इत्यादि -

* दक्षिणापथ की साधना यात्रा (ऑडियो बुक)
* प्रारूल प्रसून (ऑडियो बुक)
* अनंत की अनुगूंज (ऑडियो बुक)
* बाहुबली दर्शन (H,K,E) - वी.सी.डी., डी.वी.डी.
* भारत में संगीत कार्यक्रम (पूना,दिल्ली,कोबा, बेंगलोर)
* विदेशों में संगीत कार्यक्रम (वेंबली-लंदन, अमेरिका)

सम्पर्क : जिनभारती, प्रभात कॉम्पलेक्स, के.जी.रोड़, बेंगलोर - ५६० ००९. (फोन: ०८०-२६६६७८८२/[redacted]/ ९६११२३१५८०)
E-mail : vardhamanbharti@yahoo.com / prataptoliya@bsnl.com

प्रज्ञा संचयन

इसी पुस्तक से चुने हुए कुछ संचयित मोती

श्री आत्मसिद्धिशास्त्र – श्रीमद् राजचन्द्रजी की आत्मोपनिषद्

जिस आयु में और जितने अल्प समय में श्री राजचंद्र ने 'आत्मसिद्धि' में स्वयं आत्मसात् किया हुआ ज्ञान संजोया है उसे सोचता हूँ तब मेरा मस्तक भक्तिभाव से झुक पड़ता है। उतना ही नहीं, परन्तु मुझे प्रतीत होता है कि उन्होंने आध्यात्मिक मुमुक्षु को दिया हुआ उपहार यह तो शत शत विद्वानों ने प्रदान किये हुए साहित्यिक ग्रंथराशि के उपहार से विशेष मूल्यवान है। अपने अपने पक्ष की और मंतव्य की सिद्धि के हेतु अनेक सिद्धिग्रंथ शताधिक वर्षोंसे रचित होते आये हैं। 'सर्वार्थसिद्धि' केवल जैन आचार्यों ने ही नहीं, परंतु जैनेतर आचार्यों ने भी अपने अपने संप्रदाय पर लिखी है। 'ब्राह्मसिद्धि', 'अद्वैतसिद्धि' आदि वेदांत विषयक ग्रंथ सुविदित हैं। 'नैष्कर्म्य सिद्धि', 'ईश्वरसिद्धि' ये भी प्रसिद्ध हैं। 'सर्वज्ञसिद्धि' जैन, बौद्ध आदि अनेक परंपराओं में लिखी गई है। अकलंक के 'सिद्धि विनिश्चय' के उपरांत आचार्य शिवस्वामी रचित 'सिद्धि विनिश्चय' के अस्तित्त्व का प्रमाण अभी प्राप्त हुआ है। ऐसे विनिश्चय ग्रंथों में अपने अपने अभिप्रेत हों ऐसे अनेक विषयों की सिद्धि कही गई है। परंतु सारी सिद्धियों के साथ जब श्री राजचन्द्र की 'आत्मसिद्धि' की तुलना करता हूँ तब सिद्धि शब्दरूप समानता होते हुए भी उसके प्रेरक दृष्टिबिन्दु में महती दूरी दिखाई देती है।

अहिंसक संस्कृति, अहिंसा और जैन परम्परा

मुख्यतया चार विद्याएँ जैन परंपरा में फलित हुई हैं – (१) आत्मविद्या (२) कर्मविद्या (३) चरित्रविद्या और (४) लोकविद्या। इसी तरह अनेकांत दृष्टि के द्वारा मुख्यतया श्रुत विद्या और प्रमाण विद्या का निर्माण व पोषण हुआ है। इस प्रकार अहिंसा, अनेकांत और तन्मूलक विद्याएँ ही जैन धर्म का प्राण हैं जिसपर आगे संक्षेप में विचार किया जाता है। प्रत्येक आत्मा चाहे वह पृथ्वीगत, जलगत या वनस्पतिगत हो या कीट-पतंग पशु-पक्षी रूप हो या मानव रूप हो यह सब तात्त्विक दृष्टि से समान है।

ऋतंभरा प्रज्ञा और महात्मा गाँधीजी

वैसे तो सच्चे कवियों, लेखकों, कलाकारों तथा संशोधकों में किसी न किसी प्रकार की प्रज्ञा होती ही है; परंतु योगशास्त्र में जिसे 'ऋतंभरा' कहा जाता है उस प्रकार की प्रज्ञा प्रज्ञावान माने जानेवाले वर्ग में भी महद् अंश में होती ही नहीं है। ऋतंभरा प्रज्ञा की विशिष्टता यह है कि वह सत्य के अंश या असत्य की छाया को भी सहन नहीं कर सकती है। जहाँ कहीं असत्य, अप्रामाणिकता या अन्याय दिखाई देता है वहाँ वह प्रज्ञा पूर्ण रूप से प्रज्वलित हो उठती है – सुलग उठती है और उस अन्याय को मिटा देने के दृढ़ संकल्प में ही परिणत होती है। बापू की प्रत्येक प्रवृत्ति उनकी ऋतंभरा प्रज्ञा का प्रमाण है और उसी कारण से, उनकी प्रज्ञा को भी महाप्रज्ञा के रूप में स्वीकार करना पड़ता है।

जिनभारती – वर्धमान भारती इन्टरनेशनल फाउन्डेशन
प्रभात काम्पलेक्स, के.जी. रोड, बेंगलोर – ५६० ००९ दूरभाष: ०८०-२६६६ ७८८२ / ६५९५ ३४४०

ISBN 81-901341-11